भारत में 1980 से राजकोषीय घाटे तथा उसके नीतिगत निहितार्थों का एक अध्ययन

(A Study of Fiscal Deficit and its Policy implication in India Since - 1980)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में डी०फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध
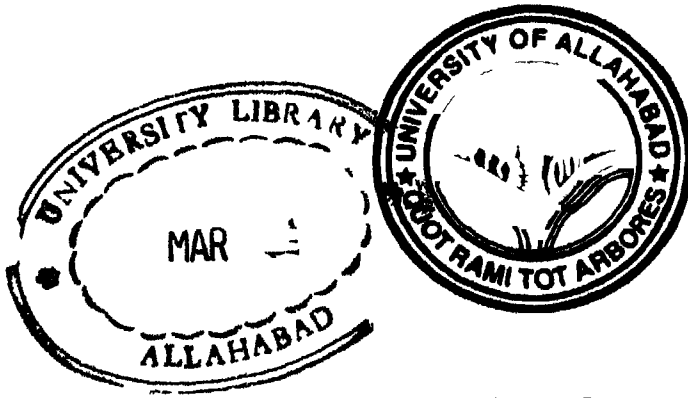
शोधकर्ता

अनूप कुमार सिह

निर्देशक

डॉ० एस० एन० लाल

प्रोफेसर - अर्थशास्त्र

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
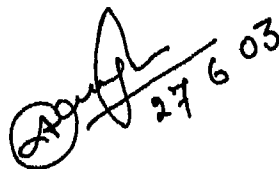
2003

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

CERTIFICATION

I Anoop Kumar Singh, Research Scholar of Economics Department, Allahabad University Allahabad, do hereby Certify that I have completed my D Phil Work titled "A study of fiscal deficit and its policy Implication in India Since 1980" under the supervision and guidance of Dr S. N Lal (Prof Economics, Allahabad University, Allahabad)

This is an independent piece of research work To the best of my knowledge, this work or any part of it has not been submitted to the Allahabad University, Allahabad or to any other University for the award of any other research Degree

27 6 03

(Anoop Kumar Singh)

CERTIFICATION

I hereby certify that Anoop Kumar Singh has completed his D Phil work titled "A study of fiscal deficit and its policy implication in India Since 1980" Under my supervision and guidance

This is an independent piece of research work To the best of my knowledge, this work or any part of it has not been submitted to the Allahabad University, Allahabad or to any other University for the award of any other research Degree

27 6 03

Dr S. N Lal

Professor of Economics

Allahabad University, Allahabad

आभारोक्ति

(Acknowledgement)

मेरे शोध कार्य शीर्षक "ए स्टडी ऑफ फिसकल डिफासिट ऐण्ड इट्स पालिसी इम्पलीकेसन्स इन इडिया सिन्स 1980" (**A study of fiscal deficit and its policy implication in India Since 1980**) का केन्द्रीय लक्ष्य यह तथ्यान्वेषण रहा है कि राजकोषीय घाटा जो विशेष रूप से वर्ष 1990 से चर्चा में है, क्या वास्तव में इतना दोषपूर्ण है जिसे सदैव कम एव नियत्रित करने का ही विचार किया जाता है अथवा यह विशेष परिस्थितियों में ही आर्थिक सकट का कारक बनता है। साथ ही साथ इस तथ्य की समीक्षा का भी भगीरथ प्रयास किया गया है कि वर्ष 1980 से वर्तमान वित्तीय वर्षो तक में राजकोषीय घाटे की क्या भूमिका रही है तथा क्या इसका हमेशा नकारात्मक पहलू ही रहेगा अथवा यह पोषणीय भी हो सकता है।

मैंने यह शोध कार्य इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग के प्रोफेसर डा0 एस0एन0 लाल जी के कुशल मार्गदर्शन एव दिशा-निर्देशन में किया है। मै उनके प्रति अपने आभार को शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता पर यह सत्य है कि बिना उनकी कृपा के इस शोध कार्य को पूरा करना भी कल्पनातीत है। मै इस अर्थ में तो नि॰सदेह भाग्यशाली रहा हू कि प्रो0 ज्ञानदेवी श्रीवास्तव, पूर्व अध्यक्षा सस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय से आशीष के साथ-साथ पुत्रवत् वत्सल स्नेह भी मुझे प्राप्त होता रहा है। उनके प्रति हार्दिक आभार प्रदर्शित करना मेरा कर्तव्य है।

इस शोध कार्य को पूर्ण करने में वैसे तो विभाग के समस्त गुरूजनों से समय-समय पर मार्गदर्शन मिलता रहा है किन्तु प्रो0 पी0एन0 मेहरोत्रा, अध्यक्ष अर्थशास्त्र विभाग एव डीन, वाणिज्य सकाय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद तथा डा0 यू0एस0 राय, रीडर अर्थशास्त्र विभाग, का विशेषरूप से आभारी हू जिनके प्रत्यक्ष सहयोग और फलदायी मार्गदर्शन के बिना यह शोध कार्य सम्भवत इतना शीघ्र पूर्ण होना सहज न था ।

शोधकृतित्व को साकार स्वरूप प्रदान करने की ओर तल्लीनता से मुझे अग्रसर करने में डा0 एस0के0 चतुर्वेदी, रीडर अर्थशास्त्र विभाग, डा0 मनमोहन कृष्ण, रीडर अर्थशास्त्र विभाग तथा श्री एस0के0 लाल, प्रवक्ता अर्थशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, का बहुमूल्य योगदान अविस्मरणीय है जिसके लिये मै उनका भी हृदय से आभारी हू ।

मै, आर0के0 सिह लाइब्रेरियन, अर्थशास्त्र विभाग और जे0पी0 यादव, कार्यालय सहायक, अर्थशास्त्र विभाग, का भी आभारी हू जिन्होंने शोध के लिये आवश्यक उपयोगी सामग्री तथा अन्य सहयोग बिना किसी विलम्ब/ उपालम्भ के उपलब्ध करायें।

मै सेन्ट्रल लाईब्रेरी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के श्री एल0एम0 वर्मा, सहायक कार्यालय अधीक्षक तथा डा0 एच0सी0 मालवीया लाईब्रेरियन, एग्रोइकोनोमिक रिसर्च सेन्टर मोनिरबा, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद का भी आभारी हू जिन्होंने शोध की दृष्टि को और पैना करने तथा वाछित सामग्री जुटाने में मेरी वास्तविक सहायता की है।

मैं अपने समूचे परिवार परम आदरणीय पितामह ठा० श्री रामजीत सिह, पिता श्री दान पाल सिह, सीनियर आडिट आफीसर, ए0जी0 आफिस, इलाहाबाद, माता श्रीमती जडावती सिह, चाचा श्री कृष्ण पाल सिह, वरिष्ठ अधिवक्ता व चाची श्रीमती ललिता सिह तथा अपने अग्रज श्री अरूण कुमार सिह वरिष्ठ अधिवक्ता, अग्रजवधू श्रीमती ऊषा सिह, और अनुज अर्द्धेन्दु कुमार सिह का आभार कैसे न मानू क्योंकि इस शोध प्रबन्ध के पीछे की सतत् प्रेरणा व प्रोत्साहन वे ही तो हैं।

मैं अपने कुछ सहपाठियों विशेषरूप से शशिकान्त प्रसाद, राजेश रजन, आई0 एफ0 एस0, अवर सचिव, विदेश मन्त्रालय भारत सरकार, वन्दना त्रिपाठी एव सुनीता वर्मा, सहायक विकास अधिकारी, उत्तर प्रदेश सरकार तथा बहन रेखा सिह और पूनम सिह का तो मैं बहुत-बहुत आभारी हू जिन्होंने निरन्तर मेरे शिथिल प्रयासों को गति प्रदान की और यदा-कदा उलझनपूर्ण ग्रन्थियों को सुलझाने में तथा शोध को परिष्कृत रूप में लाने में सहायता की है, जिससे यह शोध कार्य यथार्थ के धरातल पर आ सका। इसके अतिरिक्त सहपाठियों एव मित्रों की एक लम्बी सूची है जिसका पूरा नाम्ना उल्लेख तो सम्भव नहीं है लेकिन उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन मेरा पुनीत कर्तव्य अवश्य है।

परिचय

(Introduction)

मै, जब एम0ए0 में पढ रहा था तो प्रो0 एस0एन लाल का लोक वित्त पर सात-आठ व्याख्यान तन्मयता से सुनने के बाद मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि राजकोषीय घाटा जो 1991 से आर्थिक सुधारों की धुरी रहा है क्या वह वास्तव में इतना दोषपूर्ण रहा है कि उसमें कमी अथवा नियत्रण की बाद हमेशा से की जाती रही है। इस जिज्ञासा ने भविष्य में शोध करने की उत्कठा जागृत की और परिणामस्वरूप मैंने "भारत में 1980 से राजकोषीय घॉटा तथा उसके नीतिगत निहितार्थो का एक अध्ययन" (**A study of fiscal deficit and its policy Implication in India Since 1980**)शीर्षक पर शोध कार्य करना प्रारम्भ किया ।

सामान्य तौर पर 1990 का आर्थिक सकट कोई अल्पकालिक प्रतिभास नहीं था बल्कि आयातों में वृद्धि, ऋण सेवाओं में खराब प्रबन्धन तथा अनिवासी भारतीयों के द्वारा विदेशी विनिमय के निकासी के दीर्घकालिक सचयी परिणामों की परिणित थी। वास्तव में इस आर्थिक सकट का बीजारोपण चौधरीचरण सिह के प्रधानमत्रित्व काल में ही हो गया था जबकि कृषि क्षेत्र में भारी अनुदान की प्रक्रिया प्रचलित हुई, जिससे राजस्व खाता ऋणात्मक होना प्रारम्भ हो गया। कालान्तर में इस प्रकार के नकारात्मक चरों ने आर्थिक स्थिति को खराब करने में संचयी भूमिका निभायी ।

जहा तक राजकोषीय घाटे का प्रश्न है यह अपने आप में बुरा नहीं है बल्कि इस पर निर्भर करता है कि राजकोषीय घाटे का गुणात्मक और मात्रात्मक पहलू क्या है? यदि राजकोषीय घाटे का वित्तीयन नयी मुद्रा के निर्गमन अथवा मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि के द्वारा हो रहा है तो इससे मौद्रिक माग सृजित होगी, जो अतत॰ मुद्रा स्फीति को जन्म देगा एव जनता के ऊपर अनिवार्य स्वभाव का स्फीतिक करारोपण होगा । स्फीतिक करारोपण की क्या सीमा होगी यह इस तथ्य पर निर्भर करेगा कि हमारी अर्थव्यवस्था स्फीति की कितनी दर को सुरक्षित मानती है। अतएव मुद्रा निर्गमन की वह सीमा जिस पर मुद्रा स्फीति की दर उसकी सुरक्षित सीमा को पार कर जाये तो राजकोषीय घाटा पोषणीय नहीं होगा। तद्नुसार यदि राजकोषीय घाटे का वित्तीयन बाजार उधारी से किया गया तो राजकोषीय घाटा अपोषणीय होगा जबकि ब्याज की दर सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर से अधिक हो, जब राजकोषीय घाटे की पूर्ति विदेशी ऋण के माध्यम से होती है तो राजकोषीय घाटा पोषणीय होगा यदि निर्यात की वृद्धि दर ब्याज दर से अधिक हो ।

समय-समय पर राजकोषीय घाटे को न्यून एव नियन्त्रित करने की चर्चा अर्थव्यवस्था में होती रहती है। इस विषय पर यह सदर्भित है कि इसके लिये समग्र रूप से राजस्व प्रबन्धन, व्यय प्रबन्धन और सार्वजनिक ऋण प्रबन्धन पर विचार किया जाये । जहाँ एक तरफ दायित्व विहीन राजस्व प्राप्तियों में वृद्धि एव अनुत्पादक व्ययों में कमी राजकोषीय घाटे में प्रत्यक्ष रूप से कमी उत्पन्न

करेगी वहीं सार्वजनिक ऋण की पोषणीयता भी परोक्ष रूप से राजकोषीय घाटे को फलदायी बनाने में अह भूमिका निभायेगी ।

यह शोध कार्य 1980 से राजकोषीय घाटे की प्रवृत्ति, 1990 के आर्थिक सकट के कारणों (विशेष रूप से राजकोषीय घाटे के सदर्भ में), राजकोषीय घाटे के नीतिगत निहितार्थो, प्रभाव और इसकी पोषणीयता पर प्रभावी प्रकाश डालता है। इसी उद्देश्य से मैंने पहले अध्याय में '1991 का आर्थिक सकट तथा सरकारी कदम' का अध्ययन किया है। दूसरे अध्याय का साराश 'समष्टिगमत असतुलन तथा राजकोषीय सकट' है जिसके अन्तर्गत अर्थव्यवस्था में राजकोषीय सकट के सदर्भ में महत्वपूर्ण समष्टिगत असन्तुलनों पर विस्तृत चर्चा की गयी है। तीसरे अध्याय 'बजट सम्बन्धी घाटा-धारणा तथा वैकल्पिक माप' में घाटे के विभिन्न सिद्वान्तों को आलोकित किया गया है। चौथे अध्याय भारत में 'बजटीय घाटा की प्रवृत्ति तथा सरकारी प्रयास' के अन्तर्गत घाटे की प्रवृत्ति तथा इसे कम करने हेतु द्वारा सरकार द्वारा क्रमबद्ध तरीके से उठाये गये कदमों पर प्रभावपूर्ण रूप से विचार किया गया है। पाचवॉं अध्याय 'भारत में राजकोषीय सुधार, राजकोषीय घाटा तथा सार्वजनिक ऋण प्रबन्धन- समीक्षा' इस बिन्दु पर प्रकाश डालता है कि कैसे राजकोषीय घाटे का आशय मूलत सार्वजनिक ऋण से है और सार्वजनिक ऋण का उचित प्रबन्धन राजकोषीय घाटे को किस प्रकार सकारात्मक रूप से प्रभावित करता है। छठे अध्याय "निष्कर्ष" के अन्तर्गत शोध अध्ययन के निष्कर्ष रूप में महत्वपूर्ण सुझावों पर विचार किया गया है।

इस विषय के विस्तृत कलेवर के दृष्टिगत, इस शोध प्रबन्ध में विद्वान लेखकों, अध्येताओं एव समीक्षाओं से प्रेरणा, प्रोत्साहन एव मार्गदर्शन ग्रहण किया गया है। जो भी शेष रहा है और अभी अवशिष्ट है, वह शोधार्थी की अपनी सीमाओं के कारण है। अन्य अध्येताओं का इस शोध प्रबन्ध की मान्यताओं एव स्थापनाओं से पूर्णत सहमत ही होना अनिवार्य नहीं है। यह शोध प्रबन्ध यदि परिचर्चा एव विमर्श की सार्थक और रचनात्मक शुरूआत करने में सफल हो सका तो शोधार्थी अपना श्रम सार्थक समझ सकेगा।

विषय - सूची

(Contents)

सारणी एव आरेख की सूची
(Lıst of Tables and figures)

अध्याय -1

1991 का आर्थिक सकट तथा सरकारी कदम
(Economic Crisis of 1991 and Government Step)

एक वृहद आर्थिक सकट की पृष्ठभूमि पर भारत का वर्ष 1991-92 का सघीय बजट जुलाई 1991 में ससद में प्रस्तुत किया गया। जुलाई 1991 में विदेशी मुद्रा कोष की मात्रा केवल 2500 करोड रू0 थी। जो वास्तव में केवल 15 दिनों की आयात आवश्यकताओं को ही पूरा कर सकती थी। यह सकट केवल एक दिन में नहीं हुआ बल्कि वित्तीय वर्ष 1990-91 के प्रारम्भ से ही विदेशी विनिमय कोष में लगातार कमी होना शुरू हो गया था जो कि मुख्यत आयातों में वृद्धि, ऋण सेवाओं में खराब प्रबन्धन तथा अनिवासी भारतीयों के द्वारा विदेशी विनिमय के निकासी के सचयी परिणामों की परिणित थी। यह आर्थिक समस्या खाडी सकट के फलस्वरूप आयातित तेलों की कीमतों में वृद्धि और पश्चिम एशिया से निर्यातों एव आर्थिक सहायता में कमी के कारण और भी अभिप्रेरित हुई।[1] परिणामस्वरूप, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से जुलाई 1990 और जनवरी 1991 में ऋण लेने तथा वर्ष 1991 के ही दौरान सोने को विदेशों में गिरवी रखने और बेचने जैसे निराशाजनक उपायों के

---

[1] भारत सरकार - आर्थिक सर्वेक्षण 1990 -91, पेज सख्या -156

बावजूद भी विदेशी विनिमय कोष लगातार कम होता रहा है और विदेशी विनिमय कोष की मात्रा उस न्यूनतम स्तर पर पहुँच गयी जहा पर यह न केवल उत्पादन और उपभोग के आयात आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये बल्कि वाह्य ऋण सेवा के लिये भी अपर्याप्त थी। इस आर्थिक सकट के दौरान वाह्य ऋण में असाधारण वृद्धि हुई और मार्च 1991 के अन्त तक अर्थव्यवस्था का वाह्य ऋण एव जी0डी0पी0 अनुपात बढकर न केवल 23 प्रतिशत हो गया बल्कि चालू खाते की प्राप्तियों के रूप में वाह्य ऋण सेवा भी बढकर 21 प्रतिशत हो गया। विगत वर्षो में जो चालू खाते का घाटा जी0डी0पी0 का लगभग 2 प्रतिशत था वह वर्ष 1990–91 के दौरान बढकर जी0डी0पी0 के लगभग 2 5 प्रतिशत से अधिक हो गया।

तथ्यात्मक रूप से यह कहा जा सकता है कि विदेशी विनिमय कोष में हो रही लगातार कमी, वाह्य ऋण/ जी0डी0पी0 अनुपात में होने वाली तीव्र वृद्धि तथा राजनीतिक अस्थिरता ने एक साथ मिलकर न केवल अनिवासी जमाओं में तीव्र कमी की बल्कि भारत के अन्तर्राष्ट्रीय साख का भी क्षरण किया।

भारत की आर्थिक स्थिति को इस खतरनाक मोड तक पहुचाने में घरेलू स्थितिया भी बराबर की भागीदार थीं। केन्द्र सरकार का वर्ष 1990-91 में आन्तरिक ऋण,

जी0डी0पी0 का 54 प्रतिशत था तथा केन्द्र और राज्य का सम्मिलित रूप से ऋण, जी0डी0पी0 का 70 प्रतिशत था। वर्ष 1990-91 में केन्द्र के कुल व्यय में सबसे बडे मद के रूप में ब्याज भुगतान था जिसका केन्द्र के कुल बजटीय व्यय में 21 प्रतिशत हिस्सा था। केन्द्र का सकल राजकोषीय घाटा जो कि ऋण की मात्रा के विस्तार को मापता है, 1990-91 में जी0डी0पी0 के 8 प्रतिशत से अधिक था जबकि केन्द्र और राज्य सरकार का सम्मिलित रूप से राजकोषीय घाटा जी0डी0पी0 के 11 प्रतिशत से अधिक था। वर्ष 1990-91 में केन्द्र का राजस्व घाटा जी0डी0पी0 का 3 4 प्रतिशत जबकि मौद्रीकृत घाटा जो कि मुद्रा की पूर्ति मं वृद्धि के द्वारा व्यय का वित्तीयन करती है, इसी अवधि में जी0डी0पी0 का 3 प्रतिशत थी। अर्थव्यवस्था में सरकार के द्वारा लिये जाने वाले ऋण की लागत और सार्वजनिक निवेश के प्रतिफल के बीच में बहुत अधिक अन्तर था। दस वर्षो से अधिक समय से जी0डी0पी0 की सवृद्धि दर और विशेषत गैर कृषि आय में महत्वपूर्ण गतिवर्धन के बावजूद प्रत्यक्ष कर/ जी0डी0पी0 अनुपात स्थिर रहा है। सब्सिडीज की मात्रा में हर तरह से वृद्धि हुयी जबकि समय की आवश्यकता थी कि राजकोषीय सावधानियों के साथ-साथ बेकार सार्वजनिक अपव्ययों पर नियत्रण किया जाय। हाल के वर्षो में केन्द्र और राज्य सरकारों ने कई लोकप्रिय योजनाओं का सहारा लिया जिसके कारण फिर से राजकोषीय निकाय की व्यवहार्यता

पर जोखिम उत्पन्न हुआ है। इन योजनाओं में से अधिकतर जैसे बैंक ऋण और भूमि राजस्व को छोड देना, समानता की दृष्टि से न केवल अनैच्छिक बल्कि अधोगामी भी है।

वर्ष 1990-91 में कीमत स्तर की स्थिति भी समान रूप से आर्थिक सकट की सूचना दे रही थी। वित्तीय वर्ष 1990-91 से लगातार थोक मूल्य सूचकाक 10 प्रतिशत से अधिक वार्षिक वृद्धि दर पर बना हुआ था और बिल्कुल यही प्रवृत्ति वित्तीय वर्ष 1991-92 के शुरूआती चार महीनों में भी रही। प्राथमिक वस्तुओं विशेषरूप से खाद्यान्नों की कीमतों में 1990-91 में 15 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि देखी गयी। और इसमें 1990-91 के शीतकाल तक भी कोई कमी नहीं आयी। सबसे अधिक व्यवधान वाली स्थिति यह रही कि भारतीय अर्थव्यवस्था में क्रमिक फसलों के सदर्भ में मानसून अनुकूल होने के बावजूद कृषि उत्पादों की कीमतों में वृद्धि दिखायी पडी।

अर्थव्यवस्था में आर्थिक सकट के अन्य लक्षण भी थे। 80 के दशक से ही निजी क्षेत्र में गैर कृषि रोजगार के वृद्धि दर में गिरावट उत्पन्न हुई एव अर्थव्यवस्था में सम्पूर्ण रूप से रोजगार की वृद्धि दर जो कि 70 के दशक में 2 1 प्रतिशत थी

1983–87 के मध्य गिरकर केवल 1 55 प्रतिशत रह गई।[2] यहाँ तक कि सकल घरेलू बचत दर जो कि 1970 के दशक में प्रभावशाली रूप से बढी वह भी 1980 के दशक के दौरान स्थिर हो गयी। बचत दर 80 के दशक में आधे से भी कम हो गयी। बचत दर 1980–81 में जो 4 5 प्रतिशत थी 1990–91 में घटकर केवल 1 7 प्रतिशत रह गयी। 1980 के मध्य से केन्द्र सरकार अबचत की स्थिति में थीं। निबल पूजी अन्त प्रवाह जो कि 1970 के दशक में जी0डी0पी0 के सम्बन्ध में नगण्य था, 1990–91 के दौरान यह जी0डी0पी0 का 2 4 प्रतिशत हो गया।

80 के दशक के अन्त में और 90 के दशक के प्रारम्भ में राजनीतिक अस्थिरता ने आर्थिक समस्या को और भी बद्तर बना दिया। स्थिरीकरण कार्यक्रम चलाने के लिये यह आवश्यक है कि दृढ राजनीतिक इच्छा वाला प्रशासन हो और यह तभी सम्भव है जबकि सरकार की निरन्तरता बनी रहें, यदि ऐसा नही है तो कोई भी राजकोषीय सुधारात्मक कार्यक्रम चलाना सरकार के लिये मुश्किल होगा। आर्थिक संकट के दौरान दो वर्ष के अन्दर ही दो लोकसभा के चुनाव तथा केन्द्र में तीन सरकारे बनीं। इस प्रकार सरकार का अधिकाश समय चुनावी योजना को बनाने तथा उसको पूरा करने में

---

[2] भारत सरकार – आर्थिक सलाहकार कमेटी की रिपोर्ट – 1990

लगा। जब चुनावों की निरन्तरता समाप्त हुई तो देश में मडल और मदिर–मस्जिद जैसे विवादों से राजनीतिक तनाव का दौर शुरू हो गया। परिणामस्वरूप पजाब, असम, जम्मूकश्मीर जैसे राज्यों में राजनीतिक लडाईया शुरू हुई जिसने निश्चित तौर पर पहले से अधिभार वाले राजकोष पर अधिक बित्तीय बोझ उत्पन्न किया। सामान्य तौर पर बजट का प्रस्तुतीकरण प्रत्येक वर्ष 28 फरवरी को किया जाता है किन्तु 1991–92 का केन्द्रीय बजट पाच महीने विलम्ब से 24 जुलाई 1991 को प्रस्तुत किया गया। बजट के प्रस्तुतीकरण के विलम्ब ने जहाँ एक तरफ विदेशी निवेशकों में गलत प्रभाव डाला वहीं दूसरी तरफ घरेलू ससाधनों का भी बजटीय आवटन स्थगित करना पडा, जिसके कारण आर्थिक सकट और भी गम्भीर हो गया।

सकट की प्रवृत्तिः भूत और वर्तमान

आर्थिक आयोजन के प्रारम्भिक तीन दशकों में भारत में आर्थिक सकट का प्रमुख कारण पूर्ति में कमी रही है। भारत में सर्वप्रथम प्रभावी आर्थिक सकट 60 के दशक के मध्य में उत्पन्न हुआ जिसके प्रमुख कारण के रूप में सूखे से उत्पन्न बिहार में 1965 और 1966 के अकाल को माना जाता है, सूखे के कारण घरेलू खाद्यान्नों की पूर्ति में तीब्र कमी और आयातित खाद्यान्नों के माग में तीब्र वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप विदेशी विनिमय कोष पर दबाव

बढा तथा साथ ही जून 1966 मे होने वाले रूपये के अवमूल्यन स सार्वजनिक निवेश और औद्योगिक उत्पादन में भी कमी आयी। 1962 में भारत और चीन तथा 1965 में भारत और पाकिस्तान युद्धों ने आर्थिक ससाधनों की दिशा बडे पैमाने पर आम जनता के विकास से विवर्तित करके रक्षा व्यय के उद्देश्यों की तरफ मोड दिया। एक तरफ एम0एस0 स्वामीनाथन के प्रभावी प्रयासों से उत्पन्न हरित क्रान्ति से कृषि उत्पादों में तीव्र वृद्धि तथा दूसरी तरफ औद्योगिक मदी के परिणामस्वरूप सापेक्षिक रूप से कृषि उत्पादों की माग में कमी रही जिसके कारण मुद्रा स्फीति की दर शुरूआती समय में जो काफी ऊची थी बाद में कम हो गयी। दूसरा बडा आर्थिक सकट 70 के दशक के मध्य में उत्पन्न हुआ जब प्रथम तेल सकट 1976 के साथ दो क्रमागत फसलों के उत्पादन में तीव्र कमी आयी। इस समय खाद्यान्न और तेल की कीमतों में वृद्धि के दोहरे दबाव के कारण मुद्रा स्फीति की दर में तीव्र वृद्धि हुई जो कि लगभग 20 प्रतिशत से भी अधिक थी। दूसरे तेल सकट तथा 1979-80 के तीव्र गम्भीर सूखे के सयोग ने 80 के दशक के प्रारम्भ में ही तीसरे बडे आर्थिक सकट को जन्म दिया। उपरोक्त सभी आर्थिक सकट की अवधि में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के द्वारा ऋण लिया गया जिससे विदेशी विनिमय कोष में वृद्धि हुई।

योजनाओं के प्रारम्भिक काल में उत्पन्न सभी बडे आर्थिक सकटों का मूलभूत कारण पूर्ति मे कमी रहा है जिसमें कृषि उत्पादों की विशेष भूमिका रही है और यह पूर्ति मे कमी ही उच्च मुद्रा स्फीति और विदेशी विनिमय कोष में कमी का प्रमुख कारण बनी। साधारणत मुद्रा स्फीति में वृद्धि खाद्यान्नों की माग एव पूर्ति के मध्य असन्तुलन तथा आयातित माग में तीव्रीकरण के परिणामस्वरूप होता है। योजनाकाल के प्रारम्भिक दशकों में उत्पन्न आर्थिक सकट की तरह 1991 का आर्थिक सकट किसी पूर्ति पक्ष की असफलता का परिणाम नहीं थी। 1988 से 1991 के बीच कृषि उत्पादन की स्थिति काफी अच्छी थी। बल्कि 1987 के सूखे को शताब्दी का सबसे खराब सूखा माने जाने के बावजूद भी यह 1991-92 की अवधि में कृषि उत्पादन में कमी का कोई विशेष कारण नहीं बना। 1979-80 में अन्न तथा कृषि उत्पादन में क्रमश 2 1 प्रतिशत और 0 8 प्रतिशत की ही कमी परिलक्षित हुई। 1987-88 में खाद्यान्नों की प्रति व्यक्ति निबल उपलब्धता 451 ग्राम प्रतिदिन थी जबकि यह 1979-80 में 410 ग्राम तथा 1966-67 में 401 ग्राम प्रतिदिन थी। 80 के दशक के अन्तिम चरण में अन्तर्राष्ट्रीय तेल की स्थिति भी अनुकूल थी। निश्चित तौर पर 1990-91 के खाडी सकट ने अर्थव्यवस्था के तत्कालीन विदेशी विनिमय कोष की अल्पता को और भी बदतर बना दिया किन्तु केवल इस कारण को तत्कालीन

आर्थिक समस्या के प्रमुख कारण के रूप में देखना अनुचित होगा। तत्कालीन समय में उपलब्ध सभी सकेतकों से यह प्रतिबिम्बित था कि बिना खाडी सकट के भी भारतीय अर्थब्यवस्था 1991-92 में एक खराब स्थिति में होती।

1991 के आर्थिक सकट की प्रवृत्ति को समझने के लिये यह आवश्यक है कि 70 के दशक और 80 के दशक के सवृद्धि में तुलना और अन्तर किया जाय। 1980 के दशक में अर्थव्यवस्था का निष्पादन जी0डी0पी0 सवृद्धि दर और विनिर्माण सवृद्धि दर के सन्दर्भ में 1970 के दशक की तुलना में ज्यादा अच्छा था। 80 के दशक में वास्तविक जी0डी0पी0 का औसत वार्षिक सवृद्धि दर 5 5 प्रतिशत था जो कि 70 के दशक के 3 4 प्रतिशत से कहीं अधिक था। विनिर्माण सवृद्धि दर 1970 के दशक की तुलना में 1980 के दशक में लगभग दुगुना था। यहा तक कि 70 के दशाक में औसत सकल निवेश दर जो 19 1 प्रतिशत था, 80 के दशक में साधारणतया बढकर 21 9 प्रतिशत हो गया किन्तु 80 के दशक में अर्थव्यवस्था का निष्पादन बहुत ही अच्छा था। अस्सी के दशक में निवेशों के वित्तीयन में महत्वपूर्ण बदलाब आये। सत्तर के दशक की तुलना में सर्वप्रथम 80 के दशक में विदेशी पूजी में विश्वास किया गया जबकि 70 के दशक में घरेलू निवेश का वित्तीयन अधिकतर

घरेलू बचत के द्वारा ही किया जाता था। 70 के दशक के उत्तरार्द्ध में निबल पूजी वाह्य प्रवाह की स्थिति थी विशेष रूप से 1975-76,1976-77 और 1977-78 तीन क्रमिक वर्षो में घरेलू बचत, घरेलू निवेश की तुलना में अधिक थी जिसके कारण पूजी का वाह्य प्रवाह सम्भव हुआ। 80 के दशक में विशेष रूप से अन्तिम वर्षो (1989-90) में पूजी प्रवाह की स्थिति 70 के दशक की तुलना में बिल्कुल विपरीत हो गयी, 1989-90 में अर्थव्यवस्था में घरेलू निवेश का लगभग 10 प्रतिशत से अधिक निबल पूजी अर्न्तप्रवाह हुआ। 1980 के दशक में विदेशी ऋण की सरचना में भी परिवर्तन हुआ जहा 70 के दशक में भारत का वाह्य ऋण का भुगतान विदेशी सरकारें और अन्तर्राष्ट्रीय वित्तोय एजेन्सीया (विश्व बैंक इत्यादि) रियायती ब्याज दर पर मुख्यत दीर्घकालीन सस्थागत ऋण के रूप में उपलब्ध कराती थी। वहीं 80 के दशक में दीर्घकालीन सस्थागत वित्त और रियायती ऋणों के हिस्सों में कमी आयी जबकि अल्पकालीन व्यवसायिक ऋणों में वृद्धि हुई।

सार्वजनिक निवेश के वित्तीयन में एक बहुत बडा बदलाव आया। 1976-77 में सकल सार्वजनिक निवेश का लगभग आधे हिस्से (49 प्रतिशत) का वित्तीयन सार्वजनिक बचत के माध्यम से होता था। 1981-82 में इस अनुपात में कमी आयी और

यह गिरकर 43 प्रतिशत हो गया, 1989-90 में यह अनुपात सकुचित होकर केवल 16 प्रतिशत ही रह गया। इस प्रकार सार्वजनिक निवश के 80 प्रतिशत से अधिक का हिस्सा अब आन्तरिक और वाह्य क्षेत्र के ऋणों के माध्यम से पूरा होने लगा। सरकार जो कि उचित रूप से 70 के दशक से सकारात्मक/ वास्तविक बचत कर्ता के रूप में थी 1983-84 से इसकी भूमिका नकारात्मक बचतकर्ता के रूप में हो गयी। परिणामस्वरूप सरकार अब सम्पूर्ण निवेश का वित्तीयन ऋण लेकर करने लगी इतना ही नहीं यह वर्तमान व्ययों के वित्तीयन के लिये भी ऋण का सहारा लेने लगी।

मुद्रा स्फीति के सन्दर्भ में 80 के दशक में एक और सरचनात्मक परिवर्तन हुआ। प्रारम्भिक वर्षो में मुद्रा स्फीति की दर अच्छी और खराब कृषि वर्षो के मध्य दोलन करती थी। जिस वर्ष कृषि उत्पादन में कमी होती थी, मुद्रा स्फीति की दर बढ जाती थी और अच्छे कृषि वर्षो में यह पुन कम हो जाती थी अथवा कृषि और गैर कृषि आय के विभेदात्मक सवृद्धि दर पर निर्भर करती थी। यह चलन 80 के दशक में टूट गया। 80 के दशक से किसी भी वर्ष में कीमत स्तर में न तो कमी आयी और न ही यह स्थिर रहा। बल्कि 1983-84 और 1988-89 में जब कृषि उत्पादन में क्रमश 14 प्रतिशत और 21 प्रतिशत की वृद्धि हुई तो भी मुद्रा

स्फीति की दर क्रमश 7 प्रतिशत और 6 प्रतिशत के उच्च स्तर पर बनी रही। इसी प्रकार जब 1987–88 में कृषि उत्पादन में 1 प्रतिशत की गिरावट दर्ज हुई तो थोक मूल्य सूचकाक में 11 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गयी। अच्छे या खराब वर्षों में कीमतों की यह अनुत्क्रमणीयता सकारात्मक कीमत प्रत्याशा में निहित है जो कि पूर्ववर्ती वर्षों में अत्यन्त ही कम थी। यह एक अशुभ सकेत हैं क्योंकि इस बात की सम्भावना अधिक है और विकासशील देशों का अनुभव भी इस बात की पुष्टि करता है कि मूल्य स्तर की सकारात्मक प्रत्याशा अधिस्फीति में अन्तत परिवर्तित हो जाती है।[3]

सरकारी प्रतिक्रिया: मूलभूत प्रत्यागम

उपरोक्त भयकर परिस्थितियों की विरासत के साथ केन्द्र में जून 1991 में सरकार का गठन हुआ जिसने विगत चार दशकों से चली आ रही सम्पूर्ण आर्थिक नीति के सरचनात्मक समायोजन के निर्णय की घोषणा की। तत्कालीन वित्त मत्री डा0 मनमोहन सिह के अनुसार समस्या की जड प्रत्यक्ष रूप से तथा दृढ तरीके से समष्टि आर्थिक असन्तुलन तथा निवेश की अल्प उत्पादकता, विशेष रूप से भूतकाल में किये गये निवेश के खराब प्रतिफल की

---

[3] बी0बी0 भट्टाचार्या, इडियाज इकोनामिक क्राइसिस डेप्ट बरडेन एण्ड स्टेबिलाइजेसन, पेज संख्या–10

दर में समाहित है।[4] अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन में सुधार के लिये सरकार ने 1991-92 वित्तीय वर्ष में राजकोषीय समायोजन और समष्टि आर्थिक स्थिरीकरण के प्रयासों पर ध्यान केन्द्रित किया जिसके फलस्वरूप बाद में भी राजकोषीय दृढीकरण की स्थिति बनी रहे। इस प्रक्रिया में कम से कम तीन वर्ष या इससे अधिक का समय लग सकता है। अर्थव्यवस्था में समष्टि प्रबन्धन की दृष्टि से तेजी के साथ राजकोषीय घाटे में कमी, राजस्व घाटे को दूर करना और चालू खाते के घाटे को सतोषजनक स्थिति तक लाने का लक्ष्य रखा गया। सक्रमण की अवधि के दौरान सरकार ने गरीबों पर पडने वाले समायोजन के बोझ को कम करने की कोशिश की। समष्टि आर्थिक स्थिरीकरण और राजकोषीय समायोजन समस्या के समाधान के लिये अकेले पर्याप्त नहीं हैं। सरकार का इरादा विदेशी निवेश और विदेशी तकनीक को प्रोत्साहित करके औद्योगिक उत्पादन की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता और कुशलता में वृद्धि करना था। साथ ही साथ सरकार ने घरेलू अर्थव्यवस्था में फर्मों के आकार में वृद्धि की सीमा तथा प्रवेश पर प्रतिबन्धों को भी हटाने का निर्णय लिया। जिसके परिणामस्वरूप घरेलू बाजार में प्रतियोगिता में वृद्धि होगी जो कि उत्पादकता में वृद्धि, कुशलता में सुधार और लागतों में कमी के लिये प्रेरक का कार्य करेगी। घरेलू प्रतियोगिता में वृद्धि के साथ ही सरकार

---

[4] वित्तमंत्री डा0 मनमोहन सिंह का बजट भाषण - 1991

ने विदेशी व्यापार और पूजी प्रवाहों पर लगे हुये प्रतिबन्धों को भी हटाने का निर्णय लिया। सरकार के अनुसार पिछली आयात प्रतिस्थापन नीति हमेशा सफल नहीं हो सकती कभी-कभी यह अविवेकपूर्ण हो जाती है।[5] आधार भूत सरचना और उच्च प्रौद्योगिकी क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश प्रतिबन्धित होना चाहिए।

समग्र रूप से नयी सरकार का आर्थिक दर्शन, जैसा कि 1991 के चुनाव में काग्रेस पार्टी मेनीफेस्टो द्वारा प्रस्तुत किया गया, प्रदर्शित करता है कि खुली अर्थव्यवस्था का समर्थन, व्यापार और उद्योग का विनियत्रीकरण, वित्तीय उदारीकरण और सार्वजनिक क्षेत्र के आकार में कमी करना। ये नीतियाँ विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम के भी अनुकूल है।[6]

व्यापारः विनिमय दर और औद्योगिक नीतिया

जुलाई 1991 में भारत सरकार ने व्यापार और औद्योगिक नीतियों में काफी अधिक परिवर्तन किया। जो कि आने वाले वर्षो में सवृद्धि की सम्पूर्ण ब्यूह रचना में परिवर्तन करेगा।

---

[5] वित्तमत्री डा0 मनमोहन सिंह का बजट भाषण

[6] आई0 एम0 एफ0 – वर्ल्ड बैंक का स्थिरीकरण प्रत्यागम

सरकार ने सरचनात्मक समायोजन के लिये सबसे महत्वपूर्ण कदम निर्यात अनुदान के उन्मूलन तथा एक और तीन जुलाई 1991 को विनिमय दर समायोजन के रूप में उठाया। एक जुलाई 1991 को अन्य विदेशी मुद्राओं के सापेक्ष रूपये का लगभग 8 प्रतिशत ह्रास किया गया। इसी प्रक्रिया को आगे बढाते हुये 3 जुलाई 1991 को रूपये का पुन 10 प्रतिशत ह्रास किया गया। यद्यपि सरकार ने इस इरादे की घोषणा की कि आने वाले समय में रूपये की विनिमय दर को स्थिर रखने का प्रयास किया जायेगा। तत्कालीन वित्तीय वर्ष (1991-92) के प्रारम्भिक पाच महीनों में रूपये की विनिमय दर में लगभग 33 प्रतिशत की गिरावट दर्ज हुयी, जो कि सामान्य मुद्रा स्फीति दर से कहीं अधिक थी। रूपये की विनिमय दर का नामिनल और वास्तविक दोनों रूपों में ह्रास हुआ। विनिमय दर में ह्रास के दो मुख्य कारण देखे जा सकते है (1) व्यापार सन्तुलन में सुधार (2) रूपये में पुर्नविश्वसनीयता और अनिवासी भारतीयों द्वारा पूजी का अत प्रवाह।

विनिमय दर ह्रास के पश्चात सरकार ने अनेक मदों के आयातों पर से प्रतिबन्धों को हटाने के लिये एक नयी व्यापार नीति की घोषणा की। मुक्त सामान्य लाइसेन्स का विस्तार अब अधिक वस्तुओं के लिये कर दिया गया, तथा आयातों और निर्यातों को फिर से उदारीकृत कर दिया गया। आर0 ई0 पी0 निर्यात

मूल्य का 30 प्रतिशत आयात कर सकता है। नयी आर्थिक नीति का मुख्य लक्ष्य के तहत व्यापार को सचालित करने के लिये लाइसेन्स और मात्रात्मक प्रतिबन्धों की अपेक्षा कीमत तन्त्र पर अधिक बल दिया गया। व्यापार नीति के एक महत्वपूर्ण अग के रूप में औद्योगिक नीति का प्रयोग किया गया जो कि द्वितीय पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में प्रयुक्त की गयी औद्योगिक नीति से कहीं अलग थी। नयी औद्योगिक नीति औद्योगिक लाइसेंसिग, विदेशी निवेश, विदेशी प्रौद्योगिकी, सार्वजनिक क्षेत्र की नीतियों तथा एकाधिकार और प्रतिबन्धात्मक व्यापार, व्यवहार अधिनियम से सम्बन्धित थी। नयी औद्योगिक नीति के तहत तत्कालीन समय में 18 औद्योगिक क्षेत्रों को छोडकर बाकी सभी परियोजनाओं के लिये औद्योगिक लाइसेन्स की अनिवार्यता समाप्त कर दी गयी। लघु क्षेत्रों के आरक्षण को जारी रखा गया तथा इस क्षेत्र का विस्तार कुछ अन्य उद्योगों के लिये भी किया गया।

प्रधान उद्योगों में पूजी निवेश के लिये विदेशी भागीदारी को 51 प्रतिशत से अधिक करने पर स्वत सहमति हो गयी। निर्यातोन्मुख उद्योगों में विदेशी भागीदारी की सीमा को 100 प्रतिशत तक सहमति दी जा सकती थी। अधिकतम 2 करोड रूपये तक की इक्विटी कैपिटल का 25 प्रतिशत से अधिक के आयात की स्वतः अनुमति थी। वे व्यापारिक कम्पनिया जो प्राथमिक रूप से निर्यातों से सम्बन्धित थीं, उन्हें भी विदेशी इक्विटी भागीदारी की

सुविधा दी गयी। यह आवश्यक नही है कि विदेशी इक्विटी प्रस्ताव, विदेशी प्रौद्योगिकी समझौते के साथ हो। उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगों में मुख्यत पूजीगत वस्तुओं के सम्बन्ध में एक करोड रूपये का एक मुश्त भुगतान, घरेलू विक्रय और निर्यातों पर क्रमश 5 प्रतिशत और 8 प्रतिशत रायल्टी की विदेशी प्रौद्योगिकी सहकायता के लिये स्वत अनुमति दी गयी।

नयी औद्योगिक नीति में 8 उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र के लिये आरक्षित किया गया। सरकार ने निम्न प्रौद्योगिकी में सार्वजनिक निवेश, लघु और अविवेकपपूर्ण रूप से स्थापित उद्योगों, रूग्ण उद्योगों के सुधार, कम सामाजिक प्राथमिकता वाले अकुशल और अनुत्पादक क्षेत्रों और वह क्षेत्र जहा निजी क्षेत्र पर्याप्त रूप से विकसित हो सकता था, इनके लिये पुर्ननिरीक्षण का कार्य प्रारम्भ किया। सरकार के अशधारिता के एक भाग को म्युचुअल फण्ड, वित्तीय सस्थानों, सार्वजनिक उपक्रमों के कर्मचारियों और सामान्य जनता के पक्ष में विवर्तित किया गया। सार्वजनिक उपक्रम के प्रबन्धन को अधिक व्यवसायिक और स्वायत्त बनाया गया। एम0 आर0टी0पी0 कानूनों में सशोधनों के बावजूद एकाधिकारी पूजी और बडे औद्योगिक गृहों से व्यापार व्यवहार पर प्रतिबन्ध के लिये बडे कानून अस्तित्व में थे।

नीतिगत परिवर्तन की दिशा में सरकार ने एक कदम आगे बढाते हुये वित्तीय क्षेत्र को अग्रिमों पर ब्याज दर की सीलिग को हटाकर अशात्मक रूप से उदारीकृत कर दिया। व्यवसायिक बैंकों को भी यह स्वतन्त्रता दी गयी कि दिये गये अग्रिमों पर ब्याज दर को एक स्थिर दर से अधिक कर सकें। न्यूनतम 15 प्रतिशत तक अग्रिम दरों के निर्धारण की अनुमति जो बाजार की माग तथा पूर्ति की स्थितियों और अग्रिमों का साख के ऊपर निर्भर करती है, सरकार ने विकास बैंकों और अन्य वित्तीय सस्थानों को दी। निगम ऋण पत्र और बाण्डों पर ब्याज दर को विनियत्रित किया गया, किन्तु जिसे राजकोषीय रियायत मिलती थी, उन्हें यह सुविधा नहीं दी गयी।

सरकार का मूल लक्ष्य यह प्रदर्शित करता है कि वह धीरे-धीरे बाजारोन्मुख अर्थव्यवस्था की तरफ अग्रसर हो रही है। यद्यपि कि मिश्रित अर्थव्यवस्था का ध्यान सार्वजनिक क्षेत्र से दूर जा रहा है। भविष्य में अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र एक लम्बे समय तक एक निर्णायक भूमिका नहीं निभा सकेंगे। साथ ही साथ सरकार ने इस बात का निर्णय लिया कि वह न केवल विदेशी व्यापार और पूजी को बल्कि विदेशी प्रौद्योगिकी को भी प्रोत्साहित करेगी। स्वतन्त्रता से भारतीय आर्थिक नीति के दो प्रमुख

स्तम्भ, सार्वजनिक क्षेत्र की निर्णायक भूमिका और स्वनिर्भरता बहुत अधिक समय तक प्रचलन में नहीं रह सकी। आर्थिक आयोजन को जारी रखा गया, किन्तु समयानुरूप इसके क्षेत्र और लक्ष्य में परिर्वतन किया गया।

नयी औद्योगिक नीति में सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश की सीमा पहले से काफी कम रही। निजी निवेश के विनियत्रीकरण, एकाधिकार, पूजी और विदेशी पूजी के प्रयोग के बावजूद निजी निवेश के लिये स्वत कोई दीर्घकालिक योजना नहीं बनायी गयी। जापान और दक्षिण कोरिया की तरह भारत में भी निर्देशात्मक नियोजन को सबसे अच्छी नियोजन प्रणाली माना जा सकता है। ऐसी नियोजन प्रणाली में मात्रात्मक नियत्रण की अपेक्षा ससाधनों के आवटन और पुनर्वितरण के लिये कीमत तन्त्र प्रक्रिया अधिक कारगर सिद्ध होती है। राजकोषीय और मौद्रिक नीति विशेषत मौद्रिक नीति, बाजारोन्मुख मिश्रित अर्थव्यवस्था में अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक प्रत्यागम

यद्यपि कि सरकार इस बात पर प्रकाश डालती है कि भारत में नव आर्थिक सुधार घरेलू परिस्थितियों से प्रारम्भ होती है, किन्तु यहाँ एक सामान्य धारणा है कि भारत में नव आर्थिक नीतियों में वाहय क्षेत्र का प्रभाव एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा

करता है। भारत में नव आर्थिक नीति पर वाह्य प्रभाव डालने वाले तीन स्रोतो की चर्चा करना अनिवार्य होगा। प्रथम–आई0एम0एफ0 और विश्व बैंक दोनों ही लम्बे समय से भारत की आर्थिक नीतियों के आलोचक रहे हैं। ये दोनों सस्थाए भारत के घरेलू और वाह्य आर्थिक नीतियों में मौलिक सुधार के पक्षधर थे। अब जबकि भारत एक खतरनाक स्थिति तथा गहरे आर्थिक सकट में था तो ऐसे समय में दोनों सस्थाओं की विचारधारा एक महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान करती है। द्वितीय–80 के दशक में विश्वव्यापी रूप से अनेक देशों का झुकाव बाजार अर्थव्यवस्था की तरफ हुआ, विशेष रूप से औद्योगिक और विकासशील देशों के मध्य औद्योगिक बाजार अर्थव्यवस्था के साथ नजदीकी सम्बन्ध कायम होने से। तृतीय–पूर्वी यूरोप और सोवियत रूस में आर्थिक आयोजन के ध्वस्त होने के पश्चात बाजार अर्थव्यवस्था की तरफ तीव्र सक्रमण हुआ जिसके कारण भारत में समाजवाद और नियोजन को एक जोरदार झटका लगा।

अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक दोनो ही विकास के लिये मूलत नव क्लासिकी सवृद्धि माडल का समर्थन करते है। नव क्लासिकी अर्थशास्त्री न केवल आर्थिक नियोजन को अस्वीकार करते है बल्कि कीन्स की स्थिरीकरण नीति की वैधता पर भी प्रश्न चिन्ह लगाते है। नव क्लासिकी अर्थशास्त्री नियोजन और सार्वजनिक व्यय की निम्न बिन्दुओं के आधार पर आलोचना करते है–

(1) नियोजन, कीमतों में विकृत, ससाधनों का गलत आवटन और कल्याण तथा सवृद्धि को मदित करता है। (2) सार्वजनिक निवेश, निजी निवेश को बलात् कम कर देता है, जबकि निजी निवेश के पास तुलनात्मक रूप से अधिक उत्पादकता होती है। (3) सार्वजनिक व्यय के कारण मुख्य रूप से हीनार्थ प्रबन्धन के द्वारा स्फीति प्रभाव उत्पन्न होता है। (4) समाज कल्याण निजी बचत, कार्य की प्रेरणा और श्रम उत्पादकता पर अवमन्दित प्रभाव डालता है। (5) करारोपण उत्पादन और अर्जन की प्रेरणा में कमी करता है (6) राजकोषीय घाटा और सार्वजनिक ऋण इण्टर जनरेशनल इक्विटी को भी प्रभावित करता है।

क्रियात्मक स्तर पर विश्व बैंक और आई0एम0एफ0 स्वतन्त्र व्यापार, आयातों पर कम प्रशुल्क, विदेशी पूजी और प्रौद्योगिकी का प्रोत्साहन, करारोपण और सार्वजनिक व्यय में कमी, अनुदान का उन्मूलन, सैनिक व्ययों पर प्रतिबन्ध, मुद्रा और साख पर नियत्रण, वित्तीय सस्थानों का उदारीकरण, उत्पादन उपभोग और विनियोग पर मात्रात्मक प्रतिबन्धों का समाप्तिकरण, ससाधनों के आवटन के लिये बाजार क्रियान्वयन (कीमत तत्र) पर विश्वास और विनिमय नियत्रण के उन्मूलन का समर्थन करता है।[7]

---

[7] स्थिरीकरण पर विश्व बैंक के विचार की व्याख्या 1988 और 1991 की रिपोर्ट में।

वैश्विक आर्थिक निकाय में वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत आई0एम0एफ0 एक अन्तिम ऋणदाता के सहारे के रूप में कार्य करता है। जब एक सदस्य देश अपने भुगतान सन्तुलन की समस्याओं का प्रबन्धन नहीं कर पाता तो, यह आई0एम0एफ0 से ऋण के लिये सम्पर्क करता है। ऋण प्राप्त करने के लिये आवश्यक होता है कि सदस्य देश अपनी आर्थिक नीतियों में सुधार करेंगे। सदस्य देशों द्वारा अपनी नीतियों में सुधार और मानक आई0एम0एफ0 के द्वारा सस्तुत किये जाते हैं, जिसे आई0एम0एफ0 की ऋण शर्त कहा जाता है। आई0एम0एफ0 की यह शर्त ऋण लेने वाले देश की आर्थिक स्थिति और ऋण की मात्रा के आधार पर समय-समय पर परिवर्तित भी हो सकती है।[8] नीतिगत सुधार सामान्यत निम्न बिन्दुओं का समर्थन करता है।

(1) बैंक साख, सार्वजनिक व्यय और सार्वजनिक उपक्रमों पर प्रतिबन्ध।

(2) राजकोषीय घाटे के आकार में कमी।

(3) विदेशी मुद्राओं के सापेक्ष घरेलू मुद्रा का ह्रास।

(4) विदेशी व्यापार और पूजी तथा घरेलू कीमतों और बाजारों पर लगे हुए नियत्रणों का हटाया जाना।

---

[8] डेल (1981)

उपरोक्त नीतियों का लक्ष्य व्यापार घाटे में कमी करना, वाह्य पूजी अन्त प्रवाह, मुद्रा स्फीति में कमी तथा निवेश की उत्पादकता और कुशलता में वृद्धि करना है।

आई0एम0एफ0 की तरह विश्व बैंक के पास कोई मानक कार्यक्रम या सवृद्धि मॉडल नहीं होता। विश्व बैंक के पास आई0एम0एफ0 की तुलना में विकास की एक विस्तृत अवधारणा है। विश्व बैंक पर्यावरण के सरक्षण, गरीबी के निराकरण, मानव ससाधनों के विकास, जीवन की गुणवत्ता और रहन-सहन के स्तर आदि जैसे विभिन्न पहलुओं पर ध्यान देता हैं, जो कि सामान्य आर्थिक विकास से सम्बन्धित होते हैं। फिर भी विश्व बैंक स्वतन्त्र बाजार, विनियत्रीकरण, स्वतन्त्र व्यापार और पूजी अन्त प्रवाह तथा अर्थव्यवस्था में राज्य के कम से कम हस्तक्षेप का समर्थन करता है। 1991 में विश्व बैंक नें बाजार समर्थक सरकार का समर्थन किया।

भारत के सन्दर्भ में विश्व बैंक (1987) नें नियत्रणों तथा उच्च्व वाह्य सरक्षण जो कि आन्तरिक तथा वाह्य प्रतियोगिता से बचाता है, को धीरे-धीरे समाप्त करने के लिये कहा। विश्व बैंक ने यह भी कहा कि नियत्रणों का उन्मूलन न केवल इसलिये आवश्यक है कि यह ससाधन आवटन की कुशलता में वृद्धि करता है, बल्कि गरीबी में कमी भी लाता है। इसी का अनुकरण

करते हुये विश्व बैंक ने भारत के सन्दर्भ में 1990 में एक रिपोर्ट तैयार किया, जिसमें भारत में आर्थिक नीतियों के विवाद (विशेष रूप से सरकारी नीतिया) पर विचार किया गया। इस रिपोर्ट में दिये गये प्रमुख तथ्यों तथा नीतियों की सस्तुतियों की व्याख्या अधोलिखित है।[9]

भारत की व्यापार शासन प्रणाली में प्रशासनिक नियत्रण और प्रशुल्क ढाचा सरक्षण की उच्चतर दर के साथ विश्व में अत्यधिक मात्रा में प्रतिबन्धात्मक और जटिल निकाय के रूप था। नीतियों की विकृतता के कारण विनियोग की ऊची दर होने के बावजूद भी सवृद्धि दर काफी कम है। 80 के दशक में सरकार ने व्यापार पूजी और प्रौद्योगिकी के सम्बन्ध में नियत्रणों और प्रतिबन्धों पर ढील देना प्रारम्भ किया। जिसके परिणामस्वरूप आगामी वर्षों में विनिर्मित वस्तुओं के निर्यातों में वृद्धि हुयी। इसके बावजूद भी भुगतान सतुलन की स्थिति काफी खराब रही और इसका प्रमुख कारण आयात नियत्रणों में छूट नही बल्कि समष्टि आर्थिक असतुलन था। 80 के दशक के प्रारम्भ में विनिमय दर का सम्वर्द्धन और घरेलू माग में तीव्र वृद्धि सरकारी उपभोग व्यय में वृद्धि के परिणामस्वरूप हुयी, जिसके कारण राजकोषीय घाटे में वृद्धि प्रारम्भ हो गयी। 80 के दशक की अवधि में प्रारम्भ किये गये सुधार मूलत. समस्याओं से सामन्जस्य नहीं रखते थे। सुधार बहुत ही सीमान्त रूप से ही प्रभावी

---

[9] फाईनेन्सियल एक्सप्रेस में प्रकाशित रिपोर्ट के सारांश पर आधारित। फाईनेन्सियल एक्सप्रेस, नई दिल्ली, जुलाई 13,1991।

हो सका। यह उच्च सरक्षण और व्यापार शासन प्रणाली के विकृत चरित्र को प्रभावी रूप से कम नहीं कर सका।

1989-90 में भारत के नॉमिनल सरक्षण प्रशुल्क औसत रूप से 117 प्रतिशत था, जबकि प्रभावी सरक्षण दर का परास -16 प्रतिशत (एल्मुनियम उत्पाद) से +162 प्रतिशत (सिन्थेटिक फाइबर) तक था। मध्यवर्ती वस्तुओं पर उच्च उत्पाद कर और बढती हुयी पूँजी लागतों के कारण प्रभावी सरक्षण दर से उत्पन्न होने वाला लाभ समाप्त हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप लगभग आधी विनिर्मित इकाइयों के पास ऋणात्मक प्रभावी सरक्षण रहता है। यद्यपि कि मुक्त सामान्य लाइसेन्स योजना का विस्तार केवल 12 प्रतिशत विनिर्मित वस्तुओं तक सीमित था, किन्तु 46 प्रतिशत वस्तुयें ऐसी थी, जो कि प्रतिबन्धित वस्तुओं की सूची में थी। व्यापार शासन प्रणाली में जो थोडा बहुत परिवर्तन हुआ उसनें केवल कृषि क्षेत्र का ही समर्थन किया न कि घरेलू बाजार और निर्यात के लिये वस्तुओं के उत्पादन को प्रेरणा दी। यद्यपि कि विनिमय दर में ह्रास निर्यातों के लाभ में वृद्धि करता है, किन्तु यह भी निचले स्तर पर बना रहा क्योंकि घरेलू उत्पादन में विशेष वृद्धि नहीं हो पायी जिससे कि निर्यात में वृद्धि हो। निर्यात क्षतिपूरक योजना काफी जटिल रही और सामान्य तौर पर यह निर्यातों के प्रति उत्पादकों को प्रेरित नही कर सकी।

एक कुशल, गतिशील और अन्तर्राष्ट्रीय रूप से प्रतियोगात्मक औद्योगिक क्षेत्र के विकास के लिये आवश्यक है कि चल रही व्यापार प्रणाली में परिवर्तन करके एक सशोधित और अधिक एक रूपीय प्रशुल्क प्रणाली लागू की जाये। रिपोर्ट की सस्तुतियों के अनुसार सरक्षण के लिये प्रशुल्क की दर को कम करके औसत रूप से 20 प्रतिशत तक लाना चाहिये, तथा मात्रात्मक प्रतिबन्धों का चरणबद्ध तरीके से उन्मूलन करना चाहिये। प्रथम चरण के रूप में केवल एक नकारात्मक सूची होनी चाहिये, और वे सभी वस्तुयें जो इस सूची के अन्तर्गत नही आती, उन्हें स्थानान्तरण आयात आपूरण लाइसेन्स के द्वारा आयात की अनुमति दी जानी चाहिये। दूसरे चरण के रूप में सभी मध्यवर्ती और पूजीगत वस्तुओं को मुक्त सामान्य लाइसेन्स के अधीन लाना चाहिये। अन्तिम चरण के रूप में सभी उपभोगगत वस्तुओं को आपूरण और मुक्त सामान्य लाइसेन्स के अधीन लाना चाहिये। आपूरण के माध्यम से क्रियान्वयन होने के कारण आयात निर्यातों के साथ जुडते है, जिसके फलस्वरूप भुगतान सन्तुलन की समस्या का निराकरण होता है।

प्रशुल्क में कमी भी सुधारात्मक प्रक्रिया का एक चरण है। प्रथम चरण में सर्वप्रथम मध्यवर्ती और पूजीगत वस्तुओं पर सरक्षण के लिये आरोपित प्रशुल्क को 20–40 प्रतिशत की सीमा से घटाकर औसत रूप से 30 प्रतिशत करना चाहिये। द्वितीय

चरण के दौरान उपभोगगत वस्तुओं के आयात को भी खुली सामान्य लाइसेन्स के अधीन लाना चाहिये तथा प्रशुल्क की दर सभी वस्तुओं के सन्दर्भ में 20 प्रतिशत ही आरोपित हो।

अध्याय-2

समष्टिगत असन्तुलन और राजकोषीय सकट-पृष्ठभूमि
(Macro Imbalance and Fiscal Crisis - Background)

अध्याय-1 में हम लोगों ने भारतीय अर्थव्यवस्था के आधारभूत समष्टि- असन्तुलनों की बात की इस अध्याय में हम उन असन्तुलनों के नजदीकी कारणों तथा उनके निर्धार्यो और उनके बीच अर्न्तसम्बन्धों की व्याख्या करेंगे। हम इस अध्याय की शुरूआत सवृद्धि परिदृश्य की समीक्षा से करते है तथा इसके समष्टि असन्तुलनों पर पडने वाले प्रभावों को देखते है।

सवृद्धि परिदृश्य

आर्थिक आयोजन के प्रारभिक तीन दशकों (1950-80) में सकल घरेलू उत्पाद (जी डी पी) की सतुलित सवृद्धि दर 3 5 प्रतिशत वार्षिक थी। लगभग 2 3 प्रतिशत प्रतिवर्ष जनसख्या वृद्धि के परिणामस्वरूप पूजीगत राष्ट्रीय आय (Capitareal National Income) में प्रतिवर्ष 1 2 प्रतिशत की दर से अत्यन्त ही अल्प वृद्धि हुयी, जो कि सारणी 2 1 में प्रदर्शित है। रहन-सहन का औसत स्तर, जिसे कि प्रतिव्यक्ति निवल राष्ट्रीय उत्पाद के द्वारा मापा जाता है, 1950-51 की तुलना में 1979-80 में 38 प्रतिशत परिवर्तित हुआ।

1950–51 की तुलना में 1979–80 में 38 प्रतिशत परिवर्तित हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की तुलना में भारत का निष्पादन उपरोक्त सदर्भ में विश्व के अन्य विकासशील देशों से कहीं अधिक खराब था, यहा तक कि हमारे पडोसी देश चीन, पाकिस्तान और श्रीलका का भी निष्पादन हमसे अच्छा था। पूर्वी एशियाई देशो विशेष रूप से जिन्हें 'पैसफिक टाइगर' की सज्ञा दी जाती है, का भी निष्पादन काफी उच्च स्तरीय था जैसा कि सारणी 2 2 में प्रदर्शित है।

भारत में अच्छी कीमत स्थिरता होने के बावजूद भी प्रति व्यक्ति आय वृद्धि के सदर्भ में भी निष्पादन अच्छा नहीं था। भारत के मुद्रा स्फीति की औसत दर प्रतिवर्ष 7 6 प्रतिशत थी, जो कि अन्य विकासशील देशों की तुलना में कहीं कम थी (सारणी 2 2)। 1965 से 80 के दौरान भारत की तुलना में पाकिस्तान, श्रीलका, दक्षिण कोरिया, इण्डोनेशिया, फिलीपीन्स और बाग्लादेश में मुद्रा स्फीति की दर कहीं अधिक थी। केवल चीन में इस अवधि के दौरान पूर्ण नियत्रित कीमत यत्र के क्रियान्वयन के कारण स्थिर कीमत स्तर था। 80 के दशक में चीन में उदारीकरण की प्रक्रिया प्रारभ होने से मुद्रा स्फीति की दर भारत के समतुल्य हो गयी। लैटिन अमेरिका में भी भारत की तुलना में उच्च मुद्रा स्फीति की स्थिति थी।

1980 के दशक में उदारीकरण की धीमी प्रक्रिया के कारण सवृद्धि दर अत्यन्त ही कम थी, किन्तु उस समय भी औसत सवृद्धि निष्पादन में वृद्धि हो रही थी।[1] 1980-90 की अवधि के दौरान जी0डी0पी0 की औसत वार्षिक संवृद्धि दर प्रारभिक तीन दशकों की 3 5 प्रतिशत की तुलना में महत्वपूर्ण रूप से बढकर 5 1 प्रतिशत हो गयी थी (सारणी 2 1)। प्रति व्यक्ति यन0यन0पी0 की वार्षिक वृद्धि दर पहले की 1 2 प्रतिशत की तुलना में 80 के दशक मे प्रभावशाली रूप से बढकर 2 8 प्रतिशत हो गयी। यह देखा गया कि 80 के दशक में भारत की दीर्घकालीन सवृद्धि दर का निष्पादन अन्य विकासशील देशों की तुलना में कहीं कम था (सारणी 2 2)।

समय के अनुसार सवृद्धि की क्षेत्रगत स्थिति में परिवर्तन हुआ। सामान्य प्रत्याशा के अनुरूप धीरे-धीरे सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा कम होता गया जबकि उद्योग और विशेष रूप से सेवाओं के हिस्से में तीव्र वृद्धि हुयी। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत की तुलना की जाये तो भारत की जी0डी0पी0 में कृषि क्षेत्र का हिस्सा कहीं अधिक रहा, जबकि इसी के ठीक विपरीत उद्योगों का हिस्सा कम रहा, यह शायद इसलिये है कि अन्य विकासशील देशों की तुलना में भारत में प्रति व्यक्ति जी0एन0पी0 का स्तर कम रहा (सारणी 2 2)। अन्य विकासशील देशों के विकास के

---

[1] For a rigorous review of development experiences in India and changes in economic policy during the three and half decades of planning, see Chakravarty (1987)

सामान्य ढाँचे के विपरीत भारत के जी0डी0पी0 में सेवाओं का हिस्सा बहुत ऊँचा रहा, वह भी तब जब हम इसे प्रति व्यक्ति जी0एन0पी0 के सन्दर्भ में देखें (सारिणी 2 2 तथा 2 3)।

अन्य विकासशील देशों के साथ कुछ और भी विसगतियां हैं। अधिकतर विकासशील देशों में उत्पादन ढाचा और व्यवसायिक ढाँचे में परिवर्तन के मध्य एक नजदीकी समानता है (सारणी 2 3 और 2 4 की तुलना)। भारत में इसके विपरीत रूप से श्रम शाक्ति में कृषि का हिस्सा दुगुने से अधिक है। उद्योगों और सेवाओं दोनो में रोजगार की तुलना में आय का सृजन अधिक रहा।[2]

अस्सी के दशक में भारत के क्षेत्रगत सवृद्धि के स्वरूप की दो प्रमुख बातें थी। प्रथम–कृषि और उद्योग के मध्य परम्परागत सम्बन्धों में बदलाव हुआ। विकास की प्रारम्भिक अवस्था में उद्योगों की सवृद्धि दर मुख्यत कृषि क्षेत्र पर निर्भर करती थी, जहा से उसे कच्चे माल और मजदूरी वस्तुयें प्राप्त होती थी। 80 के दशक में कुल औद्योगिक उत्पादन की तुलना में कृषि आधारित उद्योगों के महत्व में सापेक्षिक रूप से कमी आयी और मजदूरी वस्तुओं के उत्पादन में गैर कृषि क्षेत्र में रोजगार की कम वृद्धि के कारण काफी अडचनें उत्पन्न हुयी।

---

[2] Macro-economic implications of inter sectoral growth profile in India are analysed in Bhattacharya & Mitra (1989,90,91) and Bhattacharya & Rao (1986)

सारणी 2 1

जी0डी0पी0 और प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय (1980-81 कीमतों पर)
(औसत वार्षिक चक्रवृद्धि सवृद्धि दर, प्रतिशत में)

	1950-60	1960-70	1970-80	1980-90	1950-80	1950-90
जी0डी0पी0	3 6	3 2	3 4(3 7)	5 1	3 5	3 7
प्राथमिक	2 7	1 6	1 8(2 5)	3 0	2 2	2 4
द्वितीयक	6 0	5 4	4 6	6 3	5 4	5 2
परिवहन, सचार और व्यापार	5 1	4 6	5 2	6 3	5 0	5 1
बैंकिग, बीमा और व्यवसायिक सेवायें	3 0	3 1	4 4	6 8	3 4	3 9
लोक प्रशासन और अन्य सेवायें	3 5	5 1	3 6	6 0	4 4	4 6
प्रति व्यक्ति निबल राष्ट्रीय उत्पाद	1 6	0 8	1 1(1 5)	2 8	1 2	1 4

स्रोत - भारत सरकार, आर्थिक सर्वेक्षण 1990-91

सारणी 2 2

चयनित विकासशील देशों में संवृद्धि और मुद्रास्फीति

देश	प्रति व्यक्ति जी0एन0पी0		औसत वार्षिक मुद्रास्फीति दर (प्रतिशत)	
	अमेरिकी डालर 1989	औसत वार्षिक सवृद्धि दर (प्रतिशत) 1965-89	1965-80	1980-89
बगलादेश	180	0 4	14 8	10 6
नाईजेरिया	250	0 2	14 7	14 2
भारत	340	1 8	7 5	7 7
चीन	350	5 7	0 4	5 8
पाकिस्तान	370	2 5	10 3	6 7
श्रीलका	430	3 0	9 4	10 9
इडोनेशिया	500	4 4	35 5	8 3
ईजिप्ट	640	4 2	6 4	11 0
फिलीपीन्स	710	1 6	11 7	14 8
पेरू	1010	0 2	20 6	160 3
थाईलैण्ड	1220	4 2	6 2	3 2
तुर्की	1370	2 6	20 8	41 4
चिली	1770	0 3	129 9	20 5
मेक्सिको	2010	3 0	13 0	72 7

अर्जेन्टीना	2160	0 1	78 3	334 8
मलेशिया	2160	4 0	4 9	1 5
ब्राजील	2540	3 5	31 3	227 8
कोरिया (रिपब्लिक)	4400	7 0	18 4	5 0
हागकाग	10350	6 3	8 1	7 1
सिगापुर	10450	7 0	5 1	1 5

स्रोत.- विश्व बैंक- वर्ल्ड डेवलपमेंट रिपोर्ट 1991

सारणी 2 3

चयनित विकासशील देशों में उत्पादन की सरचना

(जी0डी0पी0 का प्रतिशत)

देश	कृषि		उद्योग		सेवायें	
	1965	1989	1965	1989	1965	1989
बगलादेश	53	44	11	14	36	41
भारत	40	30	22	29	34	41
चीन	44	32	39	48	17	20
पाकिस्तान	40	27	20	24	40	49
श्रीलका	28	26	21	27	51	47
इडोनेशिया	56	23	13	37	31	39
ईजिप्ट	29	19	27	30	45	52
फिलीपीन्स	26	24	28	33	46	43
थाईलैण्ड	32	15	23	38	45	47
तुर्की	34	17	25	35	41	48
मैक्सिकों	14	9	27	32	59	59
मलेशिया	28	--	25	--	47	--
ब्राजील	19	9	33	43	48	48
कोरिया रिपब्लिक	38	10	25	44	37	46

स्रोत – विश्व बैंक– वर्ल्ड डेवलपमेंट रिपोर्ट, 1991

80 के दशक में कृषि और गैर कृषि क्षेत्र की सवृद्धि दरों में अन्तर बढता गया (सारणी 2 1)। द्वितीय, 80 के दशक में कृषि वस्तुओं के उत्पादन और सेवा क्षेत्र की आय के मध्य भी अन्तर बढता गया। प्रारम्भिक 3 दशकों में वस्तुओं के उत्पादन और सेवाओं की आय के मध्य अन्तर लगभग 1 प्रतिशत था, किन्तु 80 के दशक में यह बढकर 2 4 प्रतिशत हो गया। उपरोक्त दोनों तथ्यो में महत्वपूर्ण समष्टि आर्थिक निहितार्थ सम्मिलित है। विकास के सरचनात्मक मॉडल[3] में कृषि और गैर कृषि क्षेत्र की सापेक्षिक रूप से धीमी सवृद्धि दर पर बचत दर, कर सचयन और मुद्रा

स्फीति की दर धनात्मक प्रभाव डालते हैं। उपरोक्त में से प्रारम्भिक दो चर विकृत नीतियों के कारण मूर्तरूप धारण नहीं कर पाते और अन्तिम चर उत्पादन के सम्बन्ध में रोजगार की अल्प सवृद्धि के कारण व्यवहार रूप प्राप्त नहीं कर पाता। सेवा आय और वस्तुओं के उत्पादन की वृद्धि के मध्य बढता हुआ प्रभाव

---

[3] Theoretical framework of structuralist macro-economics is given in Taylor (1983) Empirical investigation of some structuralist hypotheses in the Indian context is a made in Bhattacharya (1984)

मुद्रा स्फीति और भुगतान सतुलन दोनों पर ही प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

जब हम भारत की आय के कम स्तर पर विचार करते हैं तो देखते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय तुलना के आधार पर भारत में सकल घरेलू बचत और निवेश दर का स्तर पहले से ही उचित रूप में काफी अधिक था। हमारे पडोसी देशों में पाकिस्तान, श्रीलका और बांग्लादेश में आय के स्तर की तुलना में बचत की दर काफी कम थी (सारणी 2 5)। केवल अत्यधिक तीव्र गति से विकसित हो रहे विकासशील देशों में ही आय बचत और निवेश की दर भारत की तुलना में अधिक थी। चीन में लगभग भारत के समान आय के स्तर होने के बावजूद बचत और निवेश का स्तर भारत से अधिक था।

यह एक दिलचस्प बात है कि तीव्र गति से विकसित हो रहे देशों की तुलना में औद्योगिक देशों में बचत की दर काफी कम (जापान एक अपवाद के रूप में) है। ब्रिटेन और अमेरिका में भी बचत की दर भारत की तुलना में कम है।

सारणी 2.4

चयनित विकासशील देशों में लेबर फोर्स में क्षेत्रीय हिस्सा
(प्रतिशत में)

देश	कृषि		उद्योग		सेवायें	
	1965	1985–87	1965	1985–87	1965	1985–87
बगलादेश	84	57	5	10	11	33
पाकिस्तान	60	49	18	13	22	38
भारत	75	63	12	11	15	27
ईजिप्ट	55	38	15	13	30	49
इडोनेशिया	71	54	9	10	21	37
फिलीपीन्स	58	43	16	10	26	47
चीन	81	74	8	14	11	13
तुर्की	75	40	11	13	14	47
थाईलैण्ड	82	72	5	6	13	22
ब्राजील	49	25	20	16	31	59
श्रीलका	56	42	14	12	30	46
मलेशिया	59	42	13	19	29	39
मैक्सिकों	50	26	22	14	29	60
कोरिया रिपब्लिक	55	21	15	27	30	52

स्रोत – सयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यू0एन0डी0पी0) मानव विकास रिपोर्ट, 1990

सारणी 2 5

चयनित देशों में घरेलू बचत और निवेश (जी0डी0पी0 के प्रतिशत के रूप में)

विकासशील देश	प्रति व्यक्ति जी0एन0पी0 (अमेरिकी डालर)	बचत		निवेश	
	1989	1965	1989	1965	1989
बगलादेश	180	8	1	11	12
भारत	340	15	21	17	24
चीन	350	25	36	24	36
पाकिस्तान	370	13	11	21	18
श्रीलंका	430	13	12	12	21
इडोनेशिया	500	8	37	8	35
ईजिप्ट	640	14	7	18	24
फिलीपीन्स	710	21	18	21	19
थाईलैण्ड	1220	19	29	20	31
तुर्की	1370	13	21	15	22
अर्जेन्टीना	2160	22	19	19	12
मलेशिया	2160	24	34	20	30
ब्राजील	2540	22	26	20	22
कोरिया रिपब्लिक	4400	8	37	15	35

विकसित देश					
ग्रेट ब्रिटेन	14,610	12	18	13	21
इटली	15,120	21	23	20	24
फ्रास	17,820	22	22	21	21
जर्मनी	20,440	23	27	23	22
अमेरिका	20,910	12	13	12	15
जापान	23,810	30	34	28	33

स्रोत – विश्व बैंक वर्ल्ड डेवलपमेंट रिपोर्ट, 1991

जी0डी0पी0 के सवृद्धि दर को या तो सकल घरेलू निवेश में वृद्धि के द्वारा या निवेश की उत्पादकता में वृद्धि के द्वारा त्वरित किया जा सकता है। सकल घरेलू निवेश दर में वृद्धि को घरेलू बचत दर अथवा निबल पूजी अन्त प्रवाह में वृद्धि के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। भारत में बचत दर जहा पहले से ही एक अनुकूलतम उच्च स्तर पर है वहा अल्पकाल में इसमें आश्चर्यजनक ढग से वृद्धि करना एक कल्पना होगी। दूसरी तरफ निबल पूजी अन्त प्रवाह की उच्च दर ऋणात्मक व्यापार सतुलन की स्थिति में ऋण जाल उत्पन्न कर सकती है। हम लोगों ने देखा हे कि 80 के दशक के अन्तिम में निबल पूजी अन्त प्रवाह में वृद्धि एक खतरनाक भुगतान सन्तुलन की समस्या उत्पन्न कर दी थी इसलिये जी0डी0पी0 में वृद्धि करने के लिये सबसे अच्छा विकल्प निवेश की उत्पादकता में अल्प मात्रा में वृद्धि को स्वीकार किया गया। औसत निबल स्थिर पूजी/ निबल घरेलू उत्पाद अनुपात 1988-89 में, 1980-81 की तुलना में 2 55 से घटकर 2 40 हो गया, किन्तु पूजी की उत्पादकता में यह अल्प वृद्धि समष्टि असन्तुलनों को रोकने में पर्याप्त नहीं हो सकी।

सार्वजनिक क्षेत्र का विकास

द्वितीय विश्व युद्ध के लगभग 35 वर्षो के पश्चात विश्व के लगभग सभी देशों में सार्वजनिक क्षेत्र के विकास की दर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की तुलना में कहीं अधिक थी। मूल रूप से इसके तीन कारण थे- प्रथम समाजवाद और मिश्रित अर्थव्यवस्था का आगमन, द्वितीय- पूजीगत और मिश्रित अर्थव्यवस्था में कीन्सियन स्थिरीकरण नीति की प्रधानता, तृतीय- कल्याणकारी राज्यों का उत्थान। 80 के दशक में उपरोक्त तीनों विचारों को गहरा धक्का लगा। कीन्सीय स्थिरीकरण नीति औद्योगिक देशों में जहा यह अधिक समीचीन थी, बहुत अधिक समय तक प्रचलन में नहीं रह सकी।[4] पूर्वी यूरोप और आशिक रूप से अन्य समाजवादी देशों में सार्वजनिक क्षेत्र के आकार को तेजी से घटाया गया। समाजवादी देशों के सकीर्ण तथ्यों की विस्तृत आलोचनाओं के बावजूद भी कल्याणकारी राज्यों ने अपने को औद्योगिक देशों के रूप में परिवर्तित नहीं किया। ये देश मूलत कर्ज और आर्थिक सकट के कारण गहरे आघात से ग्रस्त थे।[5]

सारणी सख्या 2 6 भारत में पिछले चार दशकों से उत्पादन, उपभोग, बचत और निवेश में सार्वजनिक क्षेत्र के

---

[4] For a critical review of anti-Keynesian conservative revolution in industrial see Menil & portes (1987)
[5] For a historical analysis of fiscal crisis, see Kindleberger (1984)

सापेक्षिक हिस्से को प्रदर्शित करता है। उत्पादन (जी0डी0पी0) में सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा 1980-81 में 1960-61 की तुलना में लगभग 10 प्रतिशत से बढकर 20 प्रतिशत हो गया और 80 के दशक के अन्त में यह 25 प्रतिशत के नजदीक पहुँच गया। सारणी 2 7 यह व्यक्त करती है कि सार्वजनिक क्षेत्र अधो सरचना, बिजली, पानी, परिवहन, सहरण और सचार की प्रमुख उत्पादक है। विद्युत इत्यादि के उत्पादन में तो यह लगभग एकाधिकार की स्थिति में है। समय बीतने के साथ-साथ परिवहन और सचार में इसकी हिस्सेदारी कम हो रही है। समयानुरूप विनिर्माण वस्तुओं के उत्पादन में सार्वजनिक क्षेत्र की हिस्सेदारी महत्वपूर्ण वृद्धि के साथ सतुलित स्तर पर है। यद्यपि कि विनिर्मित वस्तुओ के उत्पादन में सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान कम है किन्तु इसका विनिर्मित वस्तुओं के उत्पादन पर अधो सरचना की पूर्ति के माध्यम से अप्रत्यक्ष नियत्रण है।

प्रारम्भिक तीन दशकों में सकल घरेलू बचत में सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा 16 से 23 प्रतिशत के बीच घटता, बढता रहा है किन्तु इसके बाद से इसमें नियमित रूप से कमी आयी है। दूसरी तरफ सकल घरेलू निवेश में सरकारी क्षेत्र का हिस्सा दीर्घकाल से बढा ही है। 90 के दशक के अन्तिम

सारणी 2.6

सार्वजनिक क्षेत्र का उत्पादन, उपभोग, बचत और निवेश में सापेक्षिक हिस्सा (प्रतिशत)

वर्ष	जी0डी0पी0	सकल बचत (अ)	सकल निवेश	उपभोग
1950-51	---	17 2	25 0(अ)	---
1960-61	8 3	20 6	38 9	6 3
1970-71	12 0	18 5	36 9	10 6
1980-81	19 7	16 2	41 4	11 6
1981-82	19 3	21 7	42 3	11 6
1982-83	20 6	23 0	49 0	12 3
1983-84	20 3	17 4	48 1	12 0
1984-85	21 2	15 5	52 9	12 4
1985-86	22 2	16 4	46 2	13 3
1986-87	23 5	14 9	51 6	13 9
1987-88	24 2	10 7	46 5	14 4
1988-89	24 1	9 3	40 7	14 1
1989-90	---	7 9	44 3	14 1

(अ) चालू कीमत पर सकल घरेलू बचत में 1980-81 के कीमतों पर हिस्सेदारी/ वर्ष 1950-51 को छोडकर, सकल घरेलू विनियोग, जी0डी0पी0 और उपभोग में हिस्सेदारी।

स्रोत - केन्द्रीय साख्यिकी सगठन-राष्ट्रीय स्टैटिस्टिक्स लेखाकन 1989 और 1991

तीन वर्षो में इसमें कमी होना प्रारम्भ हुआ। इसी समय सार्वजनिक क्षेत्र के सवृद्धि में सरचनात्मक असन्तुलन उत्पन्न हुआ जिसके दो प्रमुख कारण थे- प्रथम जब आय सृजन में सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा बढ रहा था उसी समय बचत घट रही थी, द्वितीय समय बीतने के साथ-साथ सार्वजनिक बचत और निवेश का अन्तर लगातार बढ रहा था अथवा सार्वजनिक क्षेत्र के द्वारा लिये जाने वाले निबल ऋण की मात्रा में वृद्धि हो रही थी, (सारणी 2 1)।

निवेश में सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान लगभग 50 प्रतिशत है। सार्वजनिक निवेश की अल्प उत्पादकता समष्टि असन्तुलनों के प्रमुख कारण के रूप में जाना जाता हैं। यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि सार्वजनिक निवेश की अधिक हिस्सेदार कम सवृद्धि को उत्पन्न करेगी। हालाकि यह परिकल्पना अन्तर्राष्ट्रीय प्रमाणों के द्वारा समर्थित नहीं हैं। सारणी 2 8 यह दिखाती है कि अनेक विकासशील देशों में सार्वजनिक निवेश की हिस्सेदारी भारत की तुलना में अधिक है। तुर्की और ईजिप्ट जैसे देशों में प्रति व्यक्ति (जी0एन0पी0) सकल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि दर भारत की तुलना में अधिक है। यहा तक कि दक्षिण कोरिया जैसे तीब्रगति से विकसित होती बाजार अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक निवेश का स्तर 35 प्रतिशत है। औद्योगिक देशों में भी सार्वजनिक निवेश की हिस्सेदारी 30 प्रतिशत के उच्च स्तर पर है। इस

सारणी 2.7

1980-81 की कीमतों पर सकल घरेलू उत्पाद में सार्वजनिक क्षेत्र की सापेक्षिक हिस्सेदारी (प्रतिशत)

क्षेत्र	1960-61	1970-71	1980-81	1987-88
कृषि वानिकी और मत्स्य	1 4	2 6	2 9	3 0
खनन	18 7	31 3	90 9	---
विनिर्माण	5 4	10 5	13 0	13 6
विद्युत, गैस और जल आपूर्ति	78 8	92 5	94 4	92 2
निर्माण	5 7	6 9	16 2	18 3
व्यापार, होटल और रेस्त्रा	0 9	3 5	5 6	5 6
परिवहन, भण्डारण और सचार	54 7	57 0	54 2	47 3
बैंकिंग और बीमा व्यवसायिक सेवायें	6 6	17 2	27 0	38 1
सामुदायिक और व्यक्तिगत सेवायें	40 7	55 5	66 6	70 5
जी0डी0पी0	8 0	13 8	19 8	24 1

स्रोत - केन्द्रीय साख्यिकी सगठन-राष्ट्रीय साख्यिकी लेखाकन 1989,1990

प्रकार सार्वजनिक निवेश की हिस्सेदारी को समष्टि असन्तुलन और सवृद्धि का प्रमुख कारण नहीं माना जा सकता है। बाजार अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक निवेश की उचित रूप से उच्च हिस्सेदारी को अच्छा माना जाता है क्योंकि ऐसी अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र, स्वास्थ, शिक्षा, पोषण और समाज कल्याण में पर्याप्त मात्रा में निवेश नहीं करते। इस प्रकार विश्व बैंक (1991) ने विगत चार दशकों के विकास अनुभवों का पुनरावलोकन करके यह निर्धारित किया कि मानव पूजी और सामाजिक अधोसरचना में सार्वजनिक निवेश निश्चित रूप से होना चाहिए।

राजकोषीय सकट– राजकोषीय सकट सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार से सम्बन्धित है। हालाकि सार्वजनिक क्षेत्र का आकार राजकोषीय सकट का मूल कारण नहीं है, ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि सार्वजनिक व्यय के वित्तीयन का तरीका क्या है। राजकोषीय सकट से मूलभूत आशय यह हैं कि सरकार अपने व्ययों की पूर्ति अपनी आय के द्वारा करने में असमर्थ होती है। सामान्य तौर पर ऐसा इसलिये होता है कि सरकार सार्वजनिक वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति की बचनबद्धता अपने ससाधनों से अधिक कर लेती है। इसी प्रकार यह जनता को सार्वजनिक वस्तुओं और सेवाओं का भुगतान करने के लये करारोपण अथवा प्रायोगिक लागत के माध्यम से समर्थ बनाने में असमर्थ होती है।

सारणी 2.8

प्रति व्यक्ति जी0एन0पी0 की औसत वार्षिक सवृद्धि दर और कुल निवेश में सार्वजनिक क्षेत्र की हिस्सेदारी (प्रतिशत)

देश	निवेश में हिस्सेदारी	प्रति व्यक्ति जी0एन0पी0 सवृद्धि दर
तुर्की	68	2 7
इजिप्ट गणराज्य	65	3 1
अर्जेन्टीना	58	0 2
कोलम्बिया	40	2 8
कोरिया गणराज्य	35	6 7
थाईलैण्ड	33	4 0
मैक्सिकों	31	2 6
पेरू	29	0 1
फिलीपीन्स	26	1 9
भारत	46	1 8
बोत्सवाना	45	8 8
12 विकासशील देशों का औसत	43	--
13 औद्योगिक देशों का औसत	30	--

स्रोत- विश्व बैंक- वर्ल्ड डेवलपमेंट रिपोर्ट 1988, पृष्ठ सख्या 47 और 222, भारत सरकार-आर्थिक सर्वेक्षण, 1990-91 (भारत के लिये)

जबकि दूसरी तरफ गैर जिम्मेदार राजकोषीय नीतिया बिना किसी बडे आन्तरिक और वाह्य आपदाओं के ही सकट को उत्पन्न कर सकती है। आर्थिक सकट राजनीतिक अस्थिरता से भी बहुत नजदीकी तौर पर सम्बन्धित है। एक अस्थिर शासन व्यवस्था लोकप्रियता को प्राप्त करने के लिये कम कीमत और कम करारोपण के द्वारा अत्यधिक सार्वजनिक वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति का वादा करती है। इस प्रकार की लोकप्रियता एक बडे सकट और अधिक गैर जिम्मेदारी भरे वादों को तब तक जन्म देती है जब तक कि आर्थिक प्रणाली अन्तिम रूप से ध्वस्त न हो जाय।

80 के दशक में राजकोषीय समस्याओं का एक और चरित्र उभरकर सामने आया जो कि बिना दीर्घकालिक युद्ध, अकाल या अन्य आन्तरिक और वाह्य आपदाओं के ही उत्पन्न हुआ। 70 के दशक में उत्पन्न होने वाला आर्थिक सकट निश्चित तौर पर 80 के दशक के आर्थिक सकट का मूल कारण बना। गहन विश्लेषण से यह ज्ञात होता हैं कि 80 के दशक में अधिकाश देशों मे राजकोषीय बीमारी का मूल कारण वाह्य और आन्तरिक आपदाओं की अपेक्षा नीतिगत विकृतिया अधिक थी।

80 के दशक में औद्योगिक देशों में कर की दर और कर आय/ जी0डी0पी0 अनुपात में गिरावट पूर्ति अर्थशास्त्र पर बल (Conservative supply side Economics)

के कारण उत्पन्न हुई। अर्थव्यवस्था की प्रारम्भिक मांगों के बावजूद कर आय में कमी के पश्चात भी सार्वजनिक व्ययों में कमी नहीं आयी। वास्तव में सार्वजनिक व्यय/ जी0डी0पी0 अनुपात, बेरोजगारी अनुदानों और सामाजिक सुरक्षा लाभों में तीव्र वृद्धि के कारण या तो लगभग स्थिर रहा है या इसमें भी वृद्धि हुई। अधिकाश औद्योगिक देशों ने 80 के दशक में अपनी नीतियों में परिवर्तन करके मुद्रा स्फीति के द्वारा बेरोजगारी पर नियत्रण पाने की कोशिश की जिसके परिणामस्वरूप औसत बेरोजगारी दर में वृद्धि हुई।[6] इसका परिणाम यह हुआ कि सार्वजनिक ऋण/ जी0डी0पी0 अनुपात में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। विकासशील देशों में भी सार्वजनिक ऋण/ जी0डी0पी0 अनुपात में वृद्धि हुई किन्तु यह वृद्धि कर की दरों में स्वैच्छिक कटौती की नहीं बल्कि लोकप्रिय व्यय नीतियों और कर वचनों के विस्तार का परिणाम थी। सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि नौकरशाहीकरण और सरकारी कार्यक्रमों तथा परियोजनाओं के अत्यधिक विस्तार का परिणाम थी, कुछ कार्यक्रम तथा परियोजनाए तो ऐसी थी जिनके द्वारा उत्पन्न सामाजिक और आर्थिक लाभों के प्रति भी सन्देह था।

80 के दशक में भारत में राजकोषीय सकट एक नूतन घटना थी। यद्यपि कि कमोबेश पहले से ही सरचनात्मक कमी दिखना प्रारम्भ हो गयी थी, किन्तु हमारी राजकोषीय

---

[6] See Saunders & Klau (1985) and Menil & Portes (1987)

नीति की परम्परा प्रारम्भिक तीन दशकों में पूर्ववत अवस्था में कायम रही। भारत की आर्थिक स्थिति में मोड बिन्दु सम्भवत 1979-80 के सघीय बजट से उत्पन्न हुआ जिसने व्यवहारिक राजकोषीय सिद्धान्तों को काफी दूर फेक दिया और तब से ही समय-समय पर सुधारों के बावजूद राजकोषीय निकाय की स्थिति लगातार बिगडती रही।

जहाँ तक भारत के राजकोषीय निकाय का प्रश्न है तो, यह कहा जा सकता है कि भारतीय राजकोषीय प्रबन्ध में राजकोषीय घाटे की धारणा अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। भारत में वर्ष 1991 से राजकोषीय घाटे पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। वर्ष 1991 से भारत में आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया शुरू हुई जिसमें राजकोषीय घाटे की धारणा को अधिक महत्व दिया गया जिसके कुछ प्रमुख कारण निम्न हैं-

1 1991 में भारतीय आर्थिक नीति तथा आर्थिक विकास की स्ट्रेटजी में परिवर्तन के तहत सार्वजनिक क्षेत्रों के स्थान पर उदारीकरण तथा निजीकरण पर बल दिया गया जिसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में "क्राउड आउट" की मात्रा में कमी आयेगी।

2 यदि यह मान लिया जाये कि निजी क्षेत्र में निवेश अपेक्षाकृत अधिक आय तथा रोजगार का सृजन करेगा तो बढते हुये राजकोषीय घाटे के कारण अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत निवेश, आय तथा रोजगार में कमी आयेगी।

3 बढता हुआ राजकोषीय घाटा चालू खाते के घाटे में वृद्धि ला सकता है इस प्रकार आन्तरिक असन्तुलन विदेशी असन्तुलन में फैल सकता है।

4 राजकोषीय घाटे में तीव्र वृद्धि अर्थव्यवस्था को ऋण जाल में फँसा सकती है।

सारणी 29

केन्द्र और राज्य का बजटीय घाटा/ आधिक्य (करोड रूपये में)

वार्षिक औसत	केन्द्र	राज्य	कुल
1951-55	59	-15	44
1955-56	248	4	252
1960-65	87	-8	79
1965-70	196	29	225
1970-75	544	118	662
1975-80	962	-4	958
वार्षिक			
1980-81	2576	874	3450
1981-82	1392	1127	2519
1982-83	1655	694	2349
1983-84	1417	718	2135
1984-85	3745	1360	5105
1985-86	4937	-1498	3439
1986-87	8261	889	9150
1987-88	5816	-312	5504
1988-89	5642	-540	5102
1989-90	10592	399	12149
1990-91	10772	1793	12565
1991-92 पूर्वानुमान	7719	---	---

स्रोत -भारत सरकार-आर्थिक सर्वेक्षण, 1990-91, वित्त मत्रालय-भारतीय आर्थिक साख्यिकी, लोक वित्त, 1990

राजकोषीय घाटा

राजकोषीय सकट घाटे के आधिक्य का परिणाम होता है। सारणी 2 9 और 2 11 केन्द्र और राज्य सरकार का बजटीय घाटा और आधिक्य, केन्द्रीय बेंक द्वारा केन्द्र और राज्य सरकार को दिये जाने निबल साख (मौद्रीकृत घाटा) और केन्द्र तथा राज्य के राजस्व घाटे और आधिक्य की दीर्घकालीन प्रवृत्ति को सापेक्षिक रूप से प्रदर्शित करता है। आयोजन के प्रारम्भिक तीन दशकों में केन्द्र के पास अल्प मात्रा में बजटीय घाटा था। राज्यों में घाटे की स्थिति अत्यन्त ही कम थी बल्कि अधिकाश राज्यों में आधिक्य था। किन्तु 1980-81 (वास्तव में 1979-80) से केन्द्र ओर राज्य दोनों के ही बजेटरी घाटे में तीव्र उछाल आया। 1984-85 से लगातार केन्द्र के बजट घाटे में प्रत्येक वर्ष तीव्र वृद्धि हुई। राज्यों के पास अब एक बडा बजटीय घाटा था, जो कि केन्द्र के घाटे, वित्त आयोग की सिफारिशों अथवा केन्द्र और राज्यों के मध्य प्रत्यक्ष समझौतों के माध्यम से समय-समय पर समायोजित होता रहा है। सरकार को केन्द्रीय बैंक के द्वारा दिये जाने वाले निबल साख जो कि मुद्रा के विस्तार का अच्छा मापक है, में भी 1984-85 में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई[7] (सारणी 2 10)।

[7] This issue is discussed in Chakravarty (1985)

सारणी 2 10

सरकार को भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा दिया गया निबल उधार
(बिलियन रूपये)

वर्ष	केन्द्र	राज्य	कुल
1971-72	5 8	2 9	8 7
1972-73	12 1	-3 9	8 2
1973-74	6 3	1 3	7 6
1974-75	5 3	1 3	6 6
1975-76	-2 9	0 9	2 0
1976-77	8 2	0 2	8 4
1977-78	-2 6	1 4	-1 2
1978-79	21 9	-4 2	17 7
1979-80	26 5	3 4	29 9
1980-81	35 5	4 9	40 4
1981-82	32 1	7 9	40 0
1982-83	33 7	-8 6	25 1
1983-84	39 5	0 4	39 9
1984-85	60 6	14 9	75 4
1985-86	61 9	-18 6	43 3
1986-87	70 9	65 2	76 1
1987-88	65 6	-1 6	64 0

1988-89	65 0	4 3	69 3
1989-90	138 1	2 6	140 7
1990-91	144 9	-15 3	129 6
1991-92	77 2	---	---

स्रोत - भारतीय रिजर्व बैंक- रिपोर्ट आन करेन्सी एण्ड फाईनेन्स वैल्यून-1, 1989-90 पष्ठ सख्या 241।

भारत सरकार-बजट 1991-92
भारत सरकार- आर्थिक सर्वेक्षण 1990-91

1979–80 के केन्द्रीय बजट से भारतीय राजकोषीय प्रणाली में राजस्व घाटे के रूप में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। सारणी 3 11 यह प्रदर्शित करता है कि 1978–79 के दौरान केन्द्र के बजट में राजस्व खाते में आधिक्य की स्थिति थी, जो कि जी0डी0पी0 के 0 3 और 1 1 प्रतिशत के मध्य थी। इसी प्रकार राज्यो के पास भी उच्च राजस्व आधिक्य था जो कि जी0डी0पी0 के 1 और 1 4 प्रतिशत के बीच थी। राज्यों में 1983–84 तक राजस्व आधिक्य की स्थिति थी किन्तु बाद में केन्द्र की तरह जी0डी0पी0 से राजस्व घाटे के अनुपात में वृद्धि प्रारम्भ हो गयी। लोक वित्त का मापदण्ड यह कहता है कि राजस्व प्राप्तियों के सम्बन्ध में राजस्व व्यय का स्तर कम होना चाहिए, जिससे कि उत्पन्न आधिक्य का निवेश अर्थव्यवस्था में पूजी निर्माण के लिये किया जाय। वास्तव में विकासशील देशों में करारोपण का एक प्रमुख लक्ष्य राजस्व आधिक्य में वृद्धि तथा सरकारी और समग्र बचत में वृद्धि करना है। यह मान लिया जाता है कि निजी क्षेत्र या तो औसत आय के कम स्तर अथवा उपभोक्तावाद के कारण अपनी आय का अधिक अनुपात खर्च करते है, जिसके कारण उनके पास निवेश और बचत के लिये बहुत कम आय होती हैं, जो कि निश्चित रूप से पोषणीय विकास के लिये अपर्याप्त होगी।

सारणी 2.11

केन्द्र और राज्य का राजस्व आधिक्य/ घाटा (जी0डी0पी0 के प्रतिशत के रूप में)वर्ष	केन्द्र	राज्य	योग
1951-52	1 27	0 14	1 40
1960-61	0 31	0 16	0 46
1970-71	0 38	-0 04	0 34
1975-76	1 13	1 21	2 34
1976-77	0 35	1 29	1 64
1977-78	0 45	1 06	1 51
1978-79	0 28	1 09	1 37
1979-80	-0 61	1 35	0 75
1980-81	-0 57	0 66	0 09
1981-82	-0 18	0 82	0 64
1982-83	-0 71	0 50	-0 21
1983-84	-1 16	0 11	-1 05
1984-85	-1 52	-0 39	-1 91
1985-86	-2 12	0 21	-1 91
1986-87	-2 65	0 01	-2 64
1987-88	-2 75	-0 31	-3 06
1988-89	-2 69	-0 47	-3 15
1989-90	-2 80	-1 03	-3 83
1990-91 (बजट अनुमान)	-2 80	-1 14	-3 73

स्रोत - वित्त मंत्रालय- भारतीय आर्थिक साख्यिकी, लोक वित्त, 1990।

सारणी 2 12, 1980-81 से 1990-91 की अवधि के दौरान केन्द्रीय बजट में जी0डी0पी0 के प्रतिशत के रूप में राजकोषीय घाटे के एक वैकल्पिक मापक को प्रदर्शित करता है। राजस्व घाटा जी0डी0पी0 के अनुपात के रूप में 1980-81 के 0 6 प्रतिशत से बढकर 1990-91 में 3 4 प्रतिशत हो गया। केन्द्र सरकार अब चालू व्ययों को पूरा करने के लिये अधिक ऋण उगाही कर रही है, व्ययों में प्रमुख रक्षा व्यय, अनुदान, ब्याज भुगतान, वेतन और मजदूरी घटक है, जिनका हिस्सा केन्द्र के कुल गैर-आयोजनात्मक व्यय के 80 प्रतिशत से भी अधिक है। बजेटरी घाटा, जी0डी0पी0 के 2 प्रतिशत से अधिक तथा जी0डी0पी0 के मौद्रीकृत घाटा/ जी0डी0पी0 अनुपात में भी 3 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि हुई। केवल रिजर्व मुद्रा या उच्च शक्ति मुद्रा में वृद्धि ही मौद्रीकृत घाटे को प्रदर्शित करती है, केन्द्रीय बजट में वास्तविक मुद्रा की पूर्ति मौद्रीकृत घाटे का गुणक होगी। मुद्रा गुणक के 3 की मान्यता पर वास्तविक निधि मुद्रा अनुपात 1990-91 में केन्द्रीय सरकार की मौद्रीकृत घाटा के कारण विस्तृत मुद्रा के प्रसार में जी0डी0पी0 का 15 प्रतिशत था। 1990-91 में विदेशी विनिमय में कमी आयी जिससे रिजर्व मुद्रा मे भी कमी आयी परिणामस्वरूप मुद्रा की पूर्ति में वास्तविक रूप से विस्तार बहुत कम हुआ। अत यदि विदेशी विनिमय स्थिर रहता है तो 3 प्रतिशत मौद्रीकृत घाटा

सारणी 2 12

केन्द्रीय बजट में राजकोषीय घाटे की वैकल्पिक माप (जी0डी0पी0 के प्रतिशत के रूप में)

वर्ष	राजस्व घाटा	बजट घाटा	मौद्रीकृत घाटा	सकल राजकोषीय घाटा	प्राथमिक घाटा
1975-76	-1 1	0 5	0 3	4 1	2 9
1980-81	0 6	1 8	2 6	6 2	4.2
1981-82	0 1	0 9	2 0	5 4	3 3
1982-83	0 7	0 9	1 9	6 6	3 8
1983-84	1 2	0 7	1 9	6 3	4 0
1984-85	1 8	1 6	2 6	7 5	4 9
1985-86	2 2	2 0	2 4	8 3	5 4
1986-87	2 8	2 8	2 4	9 0	5 8
1987-88	2 7	1.7	2 0	8 1	4 7
1988-89	2 7	1 4	1 6	7 8	4 2
1989-90	2 7	2 4	3 1	8.0	4 0
1990-91 (स0अनुमान)	3 4	2 1	3 0	8 4	4 1

स्रोत - भारत सरकार, आर्थिक सर्वेक्षण 1990-91 और 1988-89, वित्त मंत्रालय भारतीय आर्थिक साख्यिकी, लोक वित्त 1990।

अत्यधिक मौद्रिक विस्तार और कीमतों में वृद्धि करता है, वह भी विशेष रूप से तब अधिक प्रभावी होता है जबकि मुद्रा पूर्ति के विस्तार का उपयोग सरकारी चालू व्ययों के वित्तीयन के लिये हो रहा हो।

सकल राजकोषीय घाटा सरकार की समग्र ऋण प्रत्याशा को व्यक्त करता है। 1975-76 में केन्द्र का सकल राजकोषीय घाटा जी0डी0पी0 का केवल 4 1 प्रतिशत तथा प्राथमिक घाटा (सकल राजकोषीय घाटा- ब्याज भुगतान = प्राथमिक घाटा) जी0डी0पी0 का 2 9 प्रतिशत था। 1980-81 में यह सापेक्षिक रूप से बढकर 6 2 और 4 2 प्रतिशत हो गया। आगामी 6 वर्षों में सकल राजकोषीय तथा प्राथमिक घाटे में लगातार वृद्धि दर्ज की गयी। 1986-87 में सकल राजकोषीय घाटा जी0डी0पी0 का 9 प्रतिशत तथा प्राथमिक घाटा जी0डी0पी0 का 5 8 प्रतिशत था। 1986-87 से बढते हुये ब्याज भुगतान के बोझ ने अन्य व्ययों पर भी दबाव डालना प्रारम्भ कर दिया जिसके कारण प्राथमिक घाटे की दर में गिरावट की स्थिति प्रारम्भ हो गयी। और यही से ऋण जाल का सकेत मिलने लगा।

सारणी 2 13 सरकार (केन्द्र, राज्य और सघीय राज्यों के सम्मिलित रूप से) के व्ययों, आय और घाटे को 1980-81 से 1990-91 की अवधि के दौरान जी0डी0पी0 के अनुपात

सारणी 2 13

सरकारी (केन्द्रीय राज्य और सघीय राज्य) राजस्व, व्यय और घाटा
(जी0डी0पी0 के प्रतिशत के रूप में)

वर्ष	कुल लागत	राजस्व व्यय	चालू राजस्व	राजस्व घाटा	बजटीय घाटा	सकल राजकोषीय घाटा	प्राथमिक घाटा
1980-81	27 1	18 0	18 1	-0 1	2 5	8 7	6 5
1981-82	27 4	18 5	19 1	-0 6	1 6	8 1	5 9
1982-83	29 7	20 4	20 2	0 2	1.3	9 2	6 6
1983-84	29 4	20 9	19 8	1 1	1 0	9 4	6 7
1984-85	31 5	22 3	20 4	1 9	2 2	10 8	7 9
1985-86	32 0	23 6	21 7	1 9	1 3	10 2	7 1
1986-87	34 5	24 8	22 2	2 6	3 1	12 1	8 5
1987-88	33 7	25 2	22 1	3 1	1 7	11 4	7 5
1988-89	32 9	24 9	21 7	3 2	1 3	11 0	6 9
(अ)1989-90	36 0	27 0	23 2	3 8	2 7	12 3	7 8
(ब)1990-91	34 3	26 6	22 9	3 7	1 8	11 0	6 3

(अ) संशोधित अनुमान, (ब) बजटीय अनुमान

ऋण चिन्ह आधिक्य को प्रदर्शित करता है।

स्रोत - भारत सरकार- आर्थिक सर्वेक्षण 1990-91 और 1988-89
वित्त मंत्रालय-भारतीय आर्थिक साख्यिकी, लोक वित्त 1990।

के रूप में प्रदर्शित करता है। अस्सी के दशक में जी0डी0पी0 के अनुपात के रूप में कुल लागतों में 7 प्रतिशत (27 से बढकर 34 प्रतिशत) की वृद्धि हुयी। राजस्व व्यय/ जी0डी0पी0 अनुपात गें भी 8 6 प्रतिशत (18 से बढकर 26 6

प्रतिशत) की वृद्धि हुई जबकि पूजीगत व्यय/ जी0डी0पी0 अनुपात में 1980-81 के 9 1 प्रतिशत की तुलना में 1990-91 में घटकर 7 7 प्रतिशत हो गया। केन्द्र, राज्य और सघीय राज्यों का सम्मिलित राजस्व घाटा इस दौरान 3 8 प्रतिशत था, इस घाटे में अधिकाश हिस्सेदारी केन्द्र सरकार की थी। केन्द्र, राज्य और सघीय राज्यों का सकल राजकोषीय घाटा 1989-90 में जी0डी0पी0 के 12 प्रतिशत से भी अधिक था।

उपरोक्त विश्लेषण से इस निष्कर्ष पर पहुचा जा सकता है कि 80 के दशक में राजकोषीय घाटे के सभी मानदण्डों में वृद्धि शुरू हो गयी थी। हालाकि प्राथमिक घाटे में 1986-87 से कमी प्रारम्भ हो गयी थी, ऐसा शायद इसलिए था कि गैर ब्याज भुगतान व्यय, ब्याज भुगतान व्ययों के द्वारा क्राउड आउट हो गया था। सामान्य रूप से यह ऋण जाल का प्रारम्भिक सकेत था। मौद्रीकृत घाटे का वर्तमान स्तर उच्च स्फीतिक अवस्था को उत्पन्न कर सकता था, यदि विदेशी विनिमय जैसे अन्य चरो के रूप में रिजर्व मुद्रा (और मुद्रा की पूर्ति) में कटौती न होती। भारत में

राजस्व व्ययों में वृद्धि और चालू आयों में वृद्धि की कम दर राजकोषीय असन्तुलन का प्रमुख कारण बनी।[8]

सार्वजनिक बचत

जब राजस्व घाटे में वृद्धि तथा सार्वजनिक बचत में कमी आती है तो सार्वजनिक निवेश और बचत के बीच में अन्तर लगातार बढता जाता है। जी0डी0पी0 के अनुपात के रूप में सकल घरेलू बचत 1976-77 में 1950-51 की तुलना में 1 8 प्रतिशत से बढकर 4 9 प्रतिशत हो गया। इसके बाद इसमे सतत् रूप से कमी आयी और यह 1989-90 में घटकर केवल 1 7 प्रतिशत रह गया। सारणी 2.14 यह व्यक्त करती है कि 1984-85 से सरकारी प्रशासन की सकल बचत ऋणात्मक हो गयी थी, जिसके परिणामस्वरूप 1986-87 से बाजार कीमतों पर सकल सार्वजनिक बचत में कमी प्रारम्भ हो गयी। विगत कुछ वर्षों से न केवल सरकारी प्रशासन की बल्कि सार्वजनिक विभागीय उपक्रमों का निबल बचत ऋणात्मक रहा है। यद्यपि कि 80 के दशक के दौरान गैर- विभागीय सार्वजनिक उपक्रमों का निबल बचत धनात्मक था किन्तु सार्वजनिक क्षेत्र का समग्र निबल बचत का स्तर ऋणात्मक रहा।

[8] This point is elaborated in Bhattacharya (1991)

सारणी 2.14

सार्वजनिक क्षेत्र का सकल और निबल बचत

(बिलियन रूपये)

वर्ष	सकल बचत				निबल बचत			
	सरकारी विभाग	विभागीय उपक्रम	गैर विभाग उपक्रम	योग	प्रशासनिक विभाग	उपक्रमों के विभाग	उपक्रमों के गैर विभाग	योग
1980-81	26	2 4	19	47	18	-12	-8	-2
1981-82	38	3 3	32	73	28	-14	-0 5	14
1982-83	29	6 2	43	78	18	-14	5	8
1983-84	12	7	49	68	-1	-16	5	-13
1984-85	-3	7	61	65	-19	-19	9	-29
1985-86	-5	14	75	85	-24	-18	13	-29
1986-87	-24	15	89	80	-17	-20	15	-51
1987-88	-58	21	106	69	-84	-18	21	-81
1988-89	-65	26	136	77	--	--	--	-98
1989-90 (सशोधित अनुमान)	-122	31	167	76	--	--	--	-13

स्रोत - केन्द्रीय सांख्यिकी सगठन- राष्ट्रीय साख्यिकी लेखाकन 1990।

सार्वजनिक बचत आवश्यक रूप से योजनाओं की लागतों का वित्तीयन करता है। सरकारी प्रशासन, विभागीय और गैर विभागीय उपक्रमों की बचते योजनाओं की लागतों का एक बडी मात्रा में वित्तीयन करती है। पाचवी पचवर्षीय योजना तक सार्वजनिक बचत, सार्वजनिक क्षेत्र की योजना की लागतों और सार्वजनिक निवेश में महत्वपूर्ण हिस्सेदारी निभाता था। अस्सी के दशक में अर्थात छठीं और सातवीं योजना के दौरान इस स्थिति में मूलत ह्रास प्रारम्भ हुआ। छठीं और सातवीं योजना में वित्तीयन का तरीका यह प्रदर्शित (सारणी 2 15) करता हैं कि चालू आय से योजना की लागतों का वित्तीयन लक्ष्य से कहीं कम रहा। कर स्रोतों ने सातवीं योजना में योजना लागतों के वित्तीयन में अत्यन्त ही कम (केवल 5 प्रतिशत) भूमिका अदा की। छठी और सातवीं दोनों योजना में सार्वजनिक उपक्रमों ने कुल योजना लागतों के 20 प्रतिशत से भी कम का वित्तीयन किया। जैसी कि आशा की जा रही थी, आन्तरिक ऋणों के माध्यम से सरकार ने योजना लागतों के अधिकाश भाग का वित्तीयन किया। सातवीं योजना में इस तरीके से हिस्सेदारी दो तिहाई से भी अधिक हो गयी। छठी और सातवीं दोनों ही योजना में योजना लागत के वित्तीयन के माध्यम के रूप में हीनार्थ वित्तीयन ने लगभग 15 प्रतिशत की भूमिका निभाई।

सारणी 2 15

छठी और सातवी योजना का वित्तीय स्वरूप

	छठी योजना		सातवीं योजना	
कुल लागत (करोड रूपये में) वित्तीय स्वरूप (प्रतिशत हिस्सेदारी)	97,500	1,10821	1,80,000	28,193
(अ) स्व ससाधन	46 3	36 7	41 6	23 6
कर संसाधन	27 6	19 9	8 9	5 2
प्रचलित दर	14 8	1 7	-2 9	-7 1
वैकल्पिक ससाधन का गतिशीलन	12 8	18 2	11 8	12 3
सार्वजनिक उपक्रमों का योगदान	18 6	16 8	32 7	18 4
प्रचलित कीमतें	9 6	5 2	19 7	12 2
वैकल्पिक ससाधनों का गतिशीलन	9 0	11 6	13 0	6 2
(ब) घरेलू क्षेत्र से उधारी	43 5	55 6	48 4	67 8
बाजार से निवल उधारी	20 0	20 0	17 0	19 0
लघु बचतें	6 6	8 9	10 0	10 1
अन्य उधारी	11 8	12 5	13 6	23 7
हिनार्थ प्रबन्धन	5 1	14 2	7 8	15 0
(स) निवल पूँजी अन्त प्रवाह	10 2	7 7	10 0	8 6

स्रोत - भारतीय रिजर्व बैंक - रिपोर्ट ऑन करेन्सी एण्ड फाईनेन्स 1989-90

विदेशी विनिमय संकट

भारत हमेशा से विदेशी विनिमय की कमी से ग्रस्त रहा है। पूरे योजनाकाल में व्यापार अन्तराल लगभग हमेशा ऋणात्मक रहा है। वर्ष 1949-50 और 1990-91 के मध्य व्यापार सन्तुलन केवल दो वर्षों (1972-73 और 1976-77) के लिये अल्प मात्रा में धनात्मक था, इस दौरान पूजी के अर्न्तप्रवाह से विदेशी विनिमय में वृद्धि हुई।

70 के दशक के मध्य से चालू और पूजी खाते में गैर भारतीय निवासियों के द्वारा भेजी गयी पूजी के माध्यम से आयातो के अधिकाश हिस्से का वित्तीयन किया गया। यहाँ तक कि 70 के दशक के अन्तिम चरण में पूजी अर्न्तप्रवाह ने अशकालिक रूप से विदेशी विनिमय आधिक्य की स्थिति पैदा कर दी, विदेशी विनिमय स्टाक छ महीनों की आयात आवश्यकताओं को पूरा करने की आवश्यकता से अधिक था। लेकिन 1979-80 के दूसरे तेल सकट के बाद अनिवासी भारतीयों के द्वारा भेजी गयी रकम और घरेलू तेल उत्पादन में वृद्धि के बावजूद विदेशी विनिमय की स्थिति में तेजी से ह्रास हुआ। इस सकट को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से चार विलियन डालर का ऋण लेकर दूर किया गया।

अस्सी के दशक में धीरे-धीरे आयात उदारीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। यद्यपि कि मात्रात्मक प्रतिबन्ध बने रहे किन्तु कुछ वस्तुओ को इसकी सीमा से हटाया गया। इसी समय प्रशुल्क की दरों में भी कटौती की गयी। आयात उदारीकरण का व्यापार सन्तुलन पर प्रभाव काफी विवादीय रहा। विश्व बैंक (1990) के एक आर्थिक विश्लेषण के अनुसार आयात उदारीकरण ने व्यापार सन्तुलन को प्रतिकूल रूप से प्रभावित नहीं किया। किन्तु मानी (Manı, 1991) के द्वारा किया गया तत्कालीन अध्ययन यह सुझाव देता है कि आयात उदारीकरण से उत्पादन, उपभोग और निर्यात की आयात तीव्रता में वृद्धि हुई।

सारणी 2 16 यह प्रदर्शित करता है कि विदेशी विनिमय/ आयात अनुपात 1977-78 के 0 9 से घटकर वर्ष 1981-82 में 0 3 हो गया। इस गिरावट में कुछ हिस्सेदारी 1979-80 के दूसरे तेल सकट की और कुछ हिस्सेदारी 70 के दशक के अन्त में योजना ससाधन के आगम से विदेशी विनिमय का जानबूझकर निकाला जाना था। 80 के दशक के प्रारम्भिक पाच वर्षो के दौरान विदेशी विनिमय/ आयात अनुपात में तीन कारणों से वृद्धि हुई। (1) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण (2) अनिवासी भारतीयों के द्वारा भेजी गयी रकम (3) बाम्बे हाईवे जैसे तेल स्रोतों की खोज से आयातित तेल उत्पाद में कमी। अस्सी के दशक के मध्य से स्थिति में ह्रास

(करोड रूपया)

वर्ष	सोना	विशेष आहरण अधिकार (मिलियन में)	विदेशी विनिमय	विदेशी विनिमय (पहले के वर्षो के आयातों के प्रतिशत के रूप में)
1950-51	118	---	911	1 48
1960-61	118	---	186	0 19
1965-66	116	---	182	0 13
1970-71	183	149	438	0 28
1975-76	183	203	1492	0 33
1976-77	188	187	2863	0 54
1977-78	193	162	4500	0 89
1978-79	220	365	5220	0 87
1979-80	225	529	5164	0 76
1980-81	226	491	4822	0 53
1981-82	226	425	3355	0 27
1982-83	226	270	4265	0 31
1983-84	226	216	5498	0 38
1984-85	242	147	6817	0 43
1985-86	274	115	7384	0 43
1986-87	274	139	7645	0 39
1987-88	274	70	7287	0 36
1988-89	274	80	6605	0 30
1989-90	281	82	5787	0 20
1990-91	6828(अ)	76	4388	0 12
1991-92	7160	48	2677	0 06

(अ) अक्टूबर 1990 से पुर्नमूल्यित

स्रोत - भारत सरकार- आर्थिक सर्वेक्षण, 1990-91

मुख्यत दो कारणों से उत्पन्न हुआ। जबकि घरेलू तेल उत्पादन ने उपभोग में वृद्धि को

मजबूती प्रदान की दूसरा 1985-86 के आयात नीति के उदारीकरण के बाद आयातों में तीव्र वृद्धि हुई।

उपरोक्त तीनों सारणीया (2 17, 2 18 से 2 19) 80 के दशक में आयातों और निर्यातों के व्यवहार को चित्रित करती है। सारणी 2 17 प्रदर्शित करता हैं कि रूपयों में अमेरिकी डालर तथा अन्य दुर्लभ मुद्राओं के सापेक्ष 80 के दशक से लगातार ह्रास हो रहा है। वर्ष 1980-81 और 1990-91 के बीच रूपये के मूल्य में 127 प्रतिशत का ह्रास हुआ। इस अवधि के दौरान घरेलू कीमत स्तर (थोक मूल्य सूचकाक) में लगभग 100 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

सारणी 2 18 यह व्यक्त करता हैं कि छठवीं और सातवीं योजना में निर्यात/ जी0डी0पी0 अनुपात एक समान स्तर पर बना रहा। जबकि आयात/ जी0डी0पी0 अनुपात 8 1 प्रतिशत से घटकर 7 3 प्रतिशत हो गया। सातवीं योजना के दौरान आयातों और निर्यातों दोनो में ही छठवीं योजना की तुलना में तीव्र वृद्धि हुई। वर्ष 1978-79 और 1988-89 के बीच घरेलू विनिर्मित वस्तुओं की कीमतों में, आयातित वस्तु कीमतों के 36 प्रतिशत वृद्धि की तुलना में 130 प्रतिशत की वृद्धि हुई। जबकि यदि रूपये की विनिमय दर में

सारणी 2.17

रूपये की विनिमय दर तथा आयातों और निर्यातों की सवृद्धि दर

वर्ष	रूपया/ अंमेरिकी डालर (अ)	सवृद्धि दर (प्रतिशत)		व्यापार सतुलन (विलियन रूपये)
		निर्यात	आयात	
1980-81	7 91	4 6	37 3	-58 4
1981-82	8 97	16 3	8 4	-58.0
1982-83	9 67	12 8	5 0	-55 0
1983-84	10 34	11 0	10 8	-66 6
1984-85	11 89	20 2	8 2	-58 9
1985-86	12 24	-7 2	14 7	-87 6
1986-87	12 78	14 3	2 2	-76 4
1987-88	12 97	25 9	10 7	-65 7
1988-89	14 48	29 1	26 9	-80 0
1989-90	16 65	36 8	25 4	-77 4
1990-91	17 94	17 5	21 9	-106 4
1991-92 (मई)	20 94	---	---	---

(अ) महीने का औसत

स्रोत - भारत सरकार- आर्थिक सर्वेक्षण, 1990-91

गिरावट के लिये आयात कीमतें समायोजित होती है तो आयात कीमतों में वृद्धि, विनिर्मित वस्तुओं की कीमतों की तुलना में अधिक तेजी से होती है।

इसलिये, कीमत चर आयातों में वृद्धि की पर्याप्त रूप से व्याख्या नहीं कर सकते। अत आयातों में वृद्धि का प्रमुख कारण आय और आयात उदारीकरण में वृद्धि है।

यदि आयात की सवृद्धि को मुख्य उप-समूहों के आधार पर विश्लेषण करते है तो यह स्पष्ट होता है कि उदारीकरण ने उपभोग वस्तुओं (सारणी 2 20) के आयात में तीव्र वृद्धि की। 70 और 80 के दशक के मध्य बडे आयातित मदों में कमी और गैर बडे आयातित मदों में वृद्धि हुई है। गैर बडे मदों में अन्य कोटियों की सवृद्धि दर, उन वस्तुओं को सम्मिलित करके जिन्हें उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त किया जाता है, सत्तर के दशक से अस्सी के दशक में तुलनात्मक रूप से कहीं अधिक थी।

वाह्य पूजी प्रवाह में वाह्य सहायता एक महत्वपूर्ण घटक के रूप में कार्य करती है। सामान्य रूप से वाह्य सहायता के अनुमोदन और भुगतान में बहुत असगतिया है। सातवीं योजना की अवधि (1985-90) में अनुमोदन का कुल पचास प्रतिशत ही भुगतान हुआ। घरेलू ससाधनों की स्थिरता वाह्य सहायता के प्रयोग को बाधित करने वाले कारकों में से एक रहा। पिछले कुछ

सारणी 2 18

छठी और सातवीं योजना के दौरान आयात और निर्यात का निष्पादन

	निर्यात		आयात	
	छठी योजना 1980-85	सातवीं योजना (अ) 1985-90	छठी योजना 1980-85	सातवीं योजना (अ) 1985-90
1 जी0डी0पी0 के प्रतिशत के रूप में	4 9	5 0	8 1	7 3
2 सवृद्धि, मूल्य के रूप में (प्रतिशत, प्रतिवर्ष)	13 0	19 8	13 9	16 0
रूपये में डालर में	4 5	11 6	6 2	8 2
3 सवृद्धि, परिणाम में (प्रतिशत, प्रतिवर्ष)	2 7	6 3	6 9	9 8
4 स्तर (वार्षिक औसत)				
रूपये में (करोड)	8967	17387	14683	25129
डालर में (बिलियन में)	9125	12267	15110	17943

(अ) प्रथम चार वर्षो का औसत

स्रोत - भारत सरकार- आर्थिक सर्वेक्षण, 1990-91

वर्षों के दौरान ऋण सेवा दायित्वों में वृद्धि के कारण निबल पूजी स्थानान्तरण यदि कम नहीं हुआ तो लगभग स्थिर हो गया। वर्ष 1987-88 और 1990-91 के मध्य सकल भुगतान 50 52 करोड रूपये से बढकर 6660 करोड रूपये हो गया जबकि इसी अवधि में निबल पूजी स्थानान्तरण 2428 करोड रूपये से कम होकर 2310 करोड रूपये हो गया। पिछले कुछ वर्षों में जमाओं के विदेशी करेन्सी मूल्य के सरक्षण के कारण अनिवासी विदेशी पूजी जमा में लगातार वृद्धि हुई है। समग्र विदेशी विनिमय स्टाक में गिरावट से इन जमाओं में तीव्र निकासी उत्पन्न हो सकती है, पिछले कुछ महीनों में जमाओं की तुलना में निकासी अधिक हुई है।

साराश रूप में हम कह सकते हैं कि व्यापार सतुलन विदेशी विनिमय के अपवहन का प्रमुख स्रोत हैं। 80 के दौरान व्यापार सतुलन में सुधार का कोई लक्षण नहीं था। पिछले तीन महीनों में रूपये के 25 प्रतिशत ह्रास ने निर्यातों की तुलना में आयातों को बढाया। तात्कालिक घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश ने अल्प और मध्यकालीन निबल पूजी अन्तर्प्रवाह में कोई आश्चर्यजनक सुधार नहीं किया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का ऋण तथा विदेशी विनिमय दर समायोजन प्रवासी भारतीय जमाकर्ताओं के विश्वास में अस्थायी वापसी ला सकता हैं तथा विदेशी विनिमय सकट की समस्या

सारणी 2 19

आयातों और निर्यातों का सूचकाक (1978-79 = 100)

वर्ष	निर्यात		आयात	
	प्रति इकाई मूल्य	परिमाण	प्रति इकाई मूल्य	परिमाण
1978-79	100 0	100 0	100 0	100
1979-80	105 4	106 2	114 1	116 4
1980-81	108 5	108 1	134 2	137 9
1981-82	124 1	110 1	133 1	150 6
1982-83	132 0	116 7	136 3	154 6
1983-84	151 0	113 0	125 8	185 4
1984-85	169 8	120 8	161 7	156 1
1985-86	170 8	111 3	158 8	182 3
1986-87	179 4	121 3	139 4	212 3
1987-88	195 4	140 0	160 0	204 8
1988-89	232 4	152 1	185 5	224 2

स्रोत - भारत सरकार- आर्थिक सर्वेक्षण, 1990-91

सारणी 2 20

आयातों की सवृद्धि दर

	वस्तु समूह	वार्षिक चक्रवृद्धि सवृद्धि दर, प्रतिशत	
		1970–71 से 1979–80	1980–81 से 1989–90
1	बल्क मदे (ठनसा प्जमठ)	23 2	8 9
अ	पेट्रोल और तेल लुब्रीकेन्ट	37 5	6 5
ब	गैर - पोल बल्क मदे	16 1	11 4
	उपभोग वस्तुयें	5 0	4 8
2	गैर बल्क मदें	14 0	21 2
अ	पूँजीगत वस्तुयें	13 7	19 7
1	इलेक्ट्रिक मशीनरी	14 0	23 3
11	गैर इलेक्ट्रिक मशीनरी	11 2	15 9
ब	मोती और बहुमूल्य पत्थर	31 2	28 4
स	अन्य	12 2	20 2
	कुल	19 2	14 5

स्रोत - भारतीय रिजर्व बैंक - रिपोर्ट आन करेन्सी एण्ड फाइनेन्स, 1989-90, वैल्यूम 1, पृष्ठ सख्या 349

से तात्कालिक राहत दिला सकता है किन्तु लगातार बना हुआ प्रतिकूल विदेशी व्यापार शेष, विदेशी ऋण सेवाओं तथा अर्थव्यवस्था की अल्प सवृद्धि दर भविष्य में और अधिक गम्भीर समस्यायें पैदा कर सकती हैं।

मुद्रा स्फीति

हम भारत के आर्थिक विकास में एक सकारात्मक लक्षण देखते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय मानक पर मुद्रा स्फीति की दर तुलनात्मक रूप से कम है। अब स्थितियो में बदलाव आ गया है। हालाकि वर्तमान में मौद्रिक विस्तार का स्तर इतना अधिक नहीं हैं कि अत्यधिक मुद्रा स्फीति को उत्पन्न करे, जैसा कि लैटिन अमेरिका और अन्य विकासशील देशों में अल्प मात्रा में देखा गया। यह एक तथ्य है कि भारत में मुद्रा पूर्ति की तुलना में गैर मौद्रिक चर अधिक प्रमुख स्रोत के रूप में कार्य करते हैं।[9]

सारणी 2 21 यह प्रदर्शित करता है कि वर्ष 1981-82 और 1990-91 के बीच सामान्य थोक मूल्य सूचकाक तथा विनिर्मित कीमत सूचकाक में समान रूप से 33 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि इसी अवधि के दौरान कृषि मूल्य सूचकाक में 98 प्रतिशत की वृद्धि हुई। कृषि कीमतों में विनिर्मित वस्तु कीमतों की

---

[9] See a survey of empirical literature on inflation in India in bhattacharya & Lodh (1990)

सारणी - 2 21

थोक और उपभोक्ता मूल्य सूचकाक (महीनों का औसत)

वर्ष	थोक मूल्य सूचकाक (1981-82 = 100)				औद्योगिक कर्मचारियों का उपभोक्ता मूल्य सूचकाक
	सामान्य	विनिर्मित	कृषि	सापेक्षिक कीमत	
1981-82	100	100	100	100	-
1982-83	104 9	103 5	107 3	96 4	-
1983-84	112 8	109 8	121 4	90 5	111
1984-85	120 1	117 5	129 2	91 0	118
1985-86	125 4	124 4	129 1	96 4	126
1986-87	132 7	129 2	142 8	90 5	137
1987-88	143 6	138 5	161 8	85 6	149
1988-89	154 3	151 6	170 9	88 7	166
1989-90	165 7	168 6	174 4	96 7	173
1990-91	182 7	182 8	198 3	92 2	193

स्रोत - भारत सरकार - आर्थिक सर्वेक्षण, 1990-91

तुलना में तीव्र वृद्धि हुई, जिसके दो प्रमुख कारण रहे। पहला, सापेक्षिक रूप से गैर कृषि आय में अधिक वृद्धि, दूसरा- हाल के वर्षों में कृषि वस्तुओं के लिये वसूली और समर्थन मूल्यों में अधिक वृद्धि के प्रति नीतियों का झुकाव। अधिकाश वर्षों में उपभोक्ता मूल्य सूचकाक में थोक मूल्य सूचकाक की तुलना में तीव्र वृद्धि हुई। 80 के दशक में उपभोक्ता मूल्य सूचकाक में औसत मुद्रा स्फीति की दर थोक मूल्य सूचकाक की अपेक्षा अधिक तीव्र रही।

कीमतों के नये आकडें यह प्रदर्शित करते हैं कि 1991-92 के दौरान फिर से मुद्रा स्फीति त्वरित हुई। इस समय विनिर्मित वस्तुओं की कीमतों में पिछले वर्षों की तुलना में तीव्र वृद्धि हुई। पेट्रोल कीमतों, रेलवे प्रशुल्क, उत्पाद शुल्क में तात्कालिक वृद्धि और विनिमय दर के ह्रास ने भारत के सदर्भ में अत्यधिक स्फीति की प्रत्याशा को स्थापित किया, जिसे शायद केवल मुद्रा की पूर्ति में कटौती के द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जा सकता।

अध्याय - 3

बजट सम्बन्धी घाटा-धारणा तथा वैकल्पिक माप

(Budget Deficit-Concept and Alternative Measures)

बजट सरकार की सम्पूर्ण प्राप्तियों तथा सम्पूर्ण व्ययों जो समेकित कोष में प्रदर्शित होते है, को प्रदर्शित करने वाला एक वित्तीय विवरण है। चूकि सरकार की बजेटरी क्रियाए, केवल राजस्व प्राप्ति तथा उनके व्यय के विश्लेषण तक ही सीमित नहीं होता बल्कि ये समष्टि आर्थिक निकाय तथा समष्टिगत नीतियों के सम्पूर्ण पहलू को प्रदर्शित करती है तथा इसकी यह भी विवेचना करती है कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था किस प्रकार इससे प्रभावित होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि इनसे सम्बन्धित अवधारणाओं की अधिक गहराई से व्याख्या की जाये।

सरकार के राजस्व व्यवहारों को हम जिस खाते में प्रदर्शित करते हैं उसे राजस्व बजट या राजस्व खाता कहते हैं तथा जिस खाते मं हम पूँजीगत व्यय तथा पूजीगत प्राप्तियों को प्रदर्शित करते हैं उसे पूजी खाता या पूजी बजट कहते हैं। स्पष्ट है राजस्व बजट तथा पूजी बजट का समग्रित रूप बजट कहलाता है। समग्र बजट में घाटा या आधिक्य हो सकता है उसी प्रकार राजस्व खाते तथा पूजी खाते में भी घाटा या आधिक्य की स्थिति हो

सकती है। इनसे सम्बन्धित बजट घाटा की अनेक धारणायें प्रचलित हैं यहाँ हम एक-एक करके इन धारणाओं तथा इनके बीच सम्बन्ध की सैद्धान्तिक व्याख्या करेंगे।

राजस्व खाता तथा राजस्व शेषः

सरकार के राजस्व व्यवहारों को जिस खाते में प्रदर्शित किया जाता है उसे राजस्व खाता या राजस्व बजट कहते हैं। राजस्व व्यवहारों को हम दो भागों में बाट सकते हैं-राजस्व व्यय तथा राजस्व प्राप्तिया। राजस्व व्यय वे व्यय है जो सरकार के चालू व्यवहारों से सम्बन्धित हैं, ये व्यय सरकार के विभिन्न विभागों के सामान्य रूप से कार्य करने, विभिन्न सेवाओं, सरकारी उधारी पर व्याज अदायगी, प्रतिरक्षा, सब्सिडी आदि के रूप में होता हैं। व्यापक रूप में हम यह कह सकते है कि सरकार के वे सभी व्यय जो अर्थव्यवस्था में भौतिक या वित्तीय सम्पत्ति के सृजन से सम्बन्धित नहीं हो, जिनका सम्बन्ध सामान्यतया एक वर्ष या चालू वर्ष से हो उन्हें हम राजस्व व्यय कहते हैं। दूसरी ओर राजस्व प्राप्तिया वे प्राप्तिया है जिनको लौटाने का दायित्व सरकार के ऊपर नहीं होता हैं। इन प्राप्तियों को दो भागों में बाटा जा सकता है- (क) कर राजस्व तथा (ख) गैर कर राजस्व। राजस्व खाते में राजस्व प्राप्तियों तथा राजस्व व्ययों के अन्तर को राजस्व शेष कहते है, यदि राजस्व प्राप्तिया राजस्व व्ययों से अधिक हुयी तो इसे आधिक्य की स्थिति

कहेंगे और यदि राजस्व प्राप्तिया राजस्व व्ययों से कम हुयी तो इसे 'राजस्व घाटा' कहेंगे। यदि हम राजस्व प्राप्तियों को R_R तथा राजस्व व्यय R_E से व्यक्त करेंगे तो इस प्रकार यदि कुल राजस्व प्राप्तिया $\sum R_R$ तथा कुल राजस्व व्यय $\sum R_E$ हो तो

i $\sum R_R - \sum R_E$ राजस्व आधिक्य यदि शेष धनात्मक हो या $\sum R_R > \sum R_E$

ii $\sum R_R - \sum R_E$ राजस्व शेष यदि शेष ऋणात्मक हो $\sum R_R < \sum R_E$

राजस्व आधिक्य की स्थिति हो तो इसे हम सरकारी क्षेत्र की बचत कहेंगे, यह आधिक्य अर्थव्यवस्था में पूँजी निर्माण में प्रयुक्त होगा, जो यह स्पष्ट करता है कि सरकार का चालू उपभोग चालू आय से कम है। पर यदि राजस्व खाते में घाटा की स्थिति हो तो उसे पूरा करने के लिए सार्वजनिक ऋण या घाटे की वित्त व्यवस्था का सहारा लेना होगा अर्थात चालू उपभोग व्ययों को पूरा करने के लिए ऋण का सहारा लेना होगा। स्पष्ट है स्वस्थ राजकोषीय प्रबन्ध की दृष्टि से राजस्व खाते में घाटे की स्थिति अनुचित ही नहीं बल्कि 'खतरनाक दिशा' की ओर मोड का द्योतक है। इसके प्रमुख रूप से तीन कारण हैं-प्रथम, राजस्व खाते में आधिक्य तो पूजी सम्पत्ति में वृद्धि लायेगा जबकि राजस्व घाटे को पूरा करने के लिए सार्वजनिक ऋण की आवश्यकता होगी, जो

अन्यथा पूजी निर्माण में प्रयुक्त हुयी होती, दूसरे यदि राजस्व घाटे को पूरा करने के लिए सार्वजनिक ऋण का सहारा लिया गया तो इसके परिणाम स्वरूप ब्याज के रूप में राजस्व व्यय में वृद्धि होगी, फलस्वरूप भविष्य में इसके कारण 'राजस्व घाटे' में और अधिक वृद्धि होगी, और जितना ही इसे पूरा करने के लिए हम सार्वजनिक ऋण का सहारा लेंगे उतना ही राजस्व घाटे में वृद्धि होती जायेगी, यह कुचक्र चलता जायेगा और अर्थव्यवस्था शीघ्र ही ऋण जाल में आ जायेगी। तीसरी, यदि राजस्व घाटे को पूरा करने के लिए 'घाटे की वित्त व्यवस्था' का सहारा लिया गया तो अनुत्पादक तथा गैर विकासात्मक व्ययों को पूरा करने के लिए की गयी घाटे की वित्तीय व्यवस्था निश्चित रूप से स्फीतिक होगी जो 'स्फीति सवेदनशील' अर्थव्यवस्था में उचित नहीं होगी।

पूँजी खाता तथा पूँजीखाते का शेष

पूजी खाते में सरकार की पूजी प्राप्तिया तथा पूजी व्यय प्रदर्शित होते हैं। यह सरकार की पूजी सम्बन्धित आवश्यकता तथा उनकी वित्तीय व्यवस्था के स्वरूप को प्रदर्शित करता हैं। पूजीगत व्ययों से अभिप्राय सरकार के उन व्ययों से है जो भौतिक या वित्तीय सम्पतियों के निर्माण या वढती हुयी वित्तीय देयताओं की कमी से सम्बन्धित हों। पूजीगत प्राप्तिया वे प्राप्तिया है जो सरकार की देयताओं में वृद्धि लाती हैं या सरकार की सम्पतियों

में कमी लाती हैं। सरकार विभिन्न स्रोतों से पूजीगत प्राप्तियों की व्यवस्था करती है जिससे पूजी व्ययों की आवश्यकता की पूर्ति हो सके। उल्लेखनीय है कि सरकार द्वारा जितनी ही अधिक पूजी उठायी जायेगी निजी क्षेत्र के लिए उतनी ही अधिक पूजी की कमी होगी। पूजीगत व्ययों की आवश्यकता की पूर्ति के प्रमुख स्रोत है- राजस्व खाते का आधिक्य, घरेलू बाजार से उधारी, अल्प बचत, विदेशी ऋण तथा विनिवेश' जिससे सरकार की सम्पत्तियों में कमी आती हैं। पूजीगत प्राप्तियों तथा पूजी व्ययों के बीच का अन्तर 'पूजी खाते का घाटा' कहलाता हैं। यदि पूजी प्राप्तियों को C_R तथा पूजी व्ययों को C_E से व्यक्त करें तो कुल पूजी प्राप्तियों ($\sum C_R$) तथा कुल पूजी व्ययों ($\sum C_E$) का अन्तर $\sum C_R - \sum C_E$ पूजी खाते का घाटा प्रदर्शित करेगा। पूजी खाते के घाटे को पूरा करने के लिए सरकार जिनका सहारा लेती है वे है- केन्द्रीय बैंक को एडहाक ट्रेजरी बिल्स का निर्गमन तथा केन्द्रीय बैंक से नगद निकासी अर्थात हीनार्थ प्रबन्धन। पूजीखाता यह स्पष्ट करता है कि सरकार केवल राजस्व वसूली तथा उसके चालू व्यय तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसकी अर्थव्यवस्था में आर्थिक भूमिका है वह अपने व्यवहार से अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र के निवेश को बहुत अधिक प्रभावित करती हैं।

बजेटरी शेष या बजेटरी घाटा

'अब यदि हम राजस्व खाते के शेष तथा पूजीगत खाते के शेष' को जोड दे तो जो योग आयेगा उसे हम बजेटरी शेष कहते हैं। यह कुल प्राप्तियों (राजस्व प्राप्तियों तथा पूजी प्राप्तियों) तथा कुल सार्वजनिक व्यय (राजस्व + पूजीगत व्ययों) का अन्तर हैं।

इस प्रकार बजेटरी शेष = राजस्व खाते का शेष + पूजी खाते का शेष

= (कुल राजस्व प्रातिया - कुल राजस्व व्यय) + (पूजीगत प्राप्ति - कुल पूजीगत व्यय)

बजेटरी शेष या बजेटरी घाटा = (कुल प्राप्तिया - कुल व्यय)

(कुल राजस्व प्राप्तिया + कुल पूजीगत प्राप्तिया) - (कुल राजस्व व्यय + कुल पूजीगत व्यय)

$$(\sum C_E + \sum CR) - (\sum R_E + \sum C_E)$$

कहने का अर्थ यह है कि बजेटरी शेष धनात्मक तथा ऋणात्मक दोनों हो सकता है, धनात्मक बजेटरी शेष बजट आधिक्य प्रदर्शित करेगा तथा ऋणात्मक शेष बजेटरी घाटा प्रदर्शित करेगा।

पर चूँकि 'बजेटरी घाटे' की आपूर्ति सरकार केन्दीय बैंक के पास से नकदी की निकासी अथवा ऐडहाक ट्रेजरी

बिल्स (अत्यन्त ही अल्पकालिक प्रतिभूतिया सामान्यतया 90 दिन की) के आधार पर केन्द्रीय बैंक से ऋण प्राप्त करके करती है इसलिए हम यह भी कह सकते हैं कि-

बजेटरी घाटा = केन्द्रीय बैंक से नकदी की निकासी + 90 दिनों की ट्रेजरी बिल्स में वृद्धि।

स्पष्ट है बजेटरी घाटा ही घाटे की वित्त व्यवस्था के परिमाण को निर्धारित करेगा। यहा यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि 180 या 364 दिन के लिए निर्गमित ट्रेजरी बिल्स इसमें सम्मिलित नहीं होंगे जिनको नीलामी के आधार पर बेचा जाता हैं। 1997 - 1998 बजट से ट्रेजरी बिल्स के आधार पर घाटे की आपूर्ति को समाप्त कर दिया गया हैं।

मौद्रीकृत घाटा

मौद्रीकृत घाटा सरकार की बजट के कारण 'मुद्रा की पूर्ति' में वृद्धि या नयी मुद्रा प्रदर्शित करता हैं। बजेटरी घाटा तथा सार्वजनिक ऋणों के लिए रिजर्व बैंक का निबल योगदान दोनों मिलकर मौद्रीकृत घाटा प्रदर्शित करता हैं। इस प्रकार प्रो0 बी0बी0 भट्टाचार्या के अनुसार,

मौद्रीकृत घाटा = बजेटरी घाटा + सार्वजनिक ऋण के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक का योगदान

$=\Delta TB + RBI$ से नकदी निकासी + RBI का योगदान

आर्थिक सर्वेक्षण के अनुसार मौद्रीकृत घाटा की गणना करते समय RBI से नकदी की निकासी को नहीं सम्मिलित किया जाता है जो सम्भवत इस मान्यता पर है कि RBI से नकदी की निकासी नगण्य हैं। इस प्रकार मौद्रीकृत घाटा केन्द्रीय सरकार की निबल RBI ऋण में बढोत्तरी दर्शाता है, जो RBI की ट्रेजरी बिल्स में धारिताओं में निवल वृद्धियों का कुल योग और सरकार के बाजार उधारी में इसका योगदान हैं। स्पष्ट है यदि सरकार अपनी प्रतिभूतियों को घरेलूबचतकर्ताओं, व्यापारिक बैंको तथा वित्तीय सस्थाओं को बेचने में सफल हो जाय तो मौद्रीकत तथा बजेटरी घाटा में कोई अन्तर नहीं होगा।

राजकोषीय घाटा

राजकोषीय घाटा की धारण अत्यन्त ही विस्तृत धारणा हैं। 'घाटे की वित्त व्यवस्था' की धारणा जो हम लोगों ने सुखमय चक्रवर्ती कमेटी की रिपोर्ट (1995) के पहले स्वीकार की उससे स्पष्ट है कि भारत में घाटे की वित्त व्यवस्था का अत्यन्त ही सकुचित दृष्टिकोण अपनाया गया, और इसमें सरकार द्वारा बाजार से की गयी उधारी को सम्मिलित नहीं किया गया पर घाटे की वित्त व्यवस्था का यह दृष्टिकोण अत्यन्त ही सकुचित है और वस्तुत केवल मौद्रिक घाटे पर ही प्रकाश डालता हैं।

घाटे की वास्तविक मात्रा ज्ञात करने के लिए यह आवश्यक है कि इसमें सरकार की 'बाजार उधारी' को भी सम्मिलित किया जाय। प्रो0 एस0 एन0 लाल ने अपने इकोनामिक टाइम्स में प्रकाशित एक लेख 'Public Debt in India, a disguied deficit financing (1977)' तथा बाद में सुखमय चक्रवर्ती समिति की रिपोर्ट में घाटे की वित्त व्यवस्था की धारणा की इस कमी को दूर करने के लिए सुझाव दिया गया। इस कमी को दूर करने के लिए विगत कुछ वर्षो में सरकार ने घाटे की अवधारणा के अन्तर्गत एक नये घाटे की बात शुरू की है जिसे राजकोषीय घाटा कहते हैं।

राजकोषीय घाटा, समग्र घाटा है जो वास्तव में सरकार की समग्र वित्तीय आय (याद रहे समग्र प्राप्तिया नहीं, समग्र प्राप्तियों में हम सार्वजनिक ऋण को भी सम्मिलित करते है जो वास्तव में आय नही है क्योंकि आय तो वह है जिसे लौटाने का दायित्व सरकार के ऊपर नही हो) सम्बन्धी व्यवहारों तथा समग्र व्यय सम्बन्धी क्रियाओं के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होता है। वस्तुत राजकोषीय घाटा वह घाटा है जो यह प्रदर्शित करता है कि सरकार के वित्तीय व्यवहार का परिणाम क्या रहा, अर्थव्यवस्था में इन क्रियाओं के परिणाम स्वरूप धनात्मक शेष या अतिरेक की स्थिति रही अर्थात कुल व्यय के ऊपर कुल आय का आधिक्य रहा या

ऋणात्मक शेष या घाटे की स्थिति रही अर्थात कुल आय की मात्रा कुल ब्यय से कम रही। यह समग्र आय के ऊपर समग्र ब्यय का आधिक्य ही राजकोषीय घाटा है। राजकोषीय घाटा का शेष ऋणात्मक होगा। क्योंकि सार्वजनिक ऋण आय नही होता है, यह प्राप्तिया अवश्य हैं।

इसे हम इस प्रकार और स्पष्ट कर सकते है–[1]

राजकोषीय घाटा (FD) = (समग्र राजस्व प्राप्ति + देयता में वृद्धि न लाने वाली प्राप्तिया या समग्र पूजीगत आय) – (समग्र राजस्व व्यय +समग्र पूजीगत व्यय), या (समग्र राजस्व आय + समग्र पूजी आय) – (समग्र व्यय)

चूकि, समग्र पूजीगत प्राप्ति = (समग्र पूजीगत प्राप्ति – सार्वजनिक ऋण तथा अन्य देयतायें)

इसलिए हम यह भी कह सकते है कि,

राजकोषीय घाटा = [(समग्र राजस्व आय) + (समग्र पूजी प्राप्ति) – सार्वजनिक ऋण तथा अन्य देयतायें] – (समग्र व्यय)

या, राजकोषीय घाटा – सार्वजनिक ऋण तथा अन्य देयतायें = (समग्र राजस्व आय या प्राप्ति + पूजीगत प्राप्ति)–(समग्र व्यय)

हम यह जानते है कि,

---

[1] S N Lal Lokvitt

(समग्र राजस्व प्राप्ति + समग्र पूजीगत प्राप्ति) - (समग्र व्यय) = बजेटरी घाटा

इसलिए हम यह कह सकते है-

राजकोषीय घाटा - सार्वजनिक ऋण तथा अन्य देयतायें = बजेटरी घाटा

या राजकोषीय घाटा = बजेटरी घाटा + सार्वजनिक ऋण तथा अन्य देयताये

या राजकोषीय घाटा - बजेटरी घाटा = सार्वजनिक ऋण तथा अन्य देयताये

यदि समग्र राजस्व व्यय $\sum R_E$ समग्र पूजीगत व्यय $\sum C_E$ समग्र राजस्व प्राप्ति $\sum R_R$, समग्र पूजीगत प्राप्ति $\sum C_R$ तथा समग्र पूजीगत आय $\sum C_Y$ = (समग्र पूजीगत प्राप्ति - सार्वजनिक ऋण तथा अन्य देयतायें) = हो तो

$$FD = (\sum R_R + \sum C_Y) - (\sum R_E + \sum C_E)$$

$= \sum R_R + \sum C_Y -$ (E, समग्र व्यय)

चूकि समग्र पूजीगत आय = C_R - सार्वजनिक ऋण तथा अन्य देयतायें

इसलिए $FD = (\sum R_R) + (\sum C_R$ - सार्वजनिक ऋण तथा अन्य देयतायें) - E

हम जानते है कि

$(\sum R_R + \sum C_R) - E$ = बजेटरी घाटा

इसलिए हम यह भी कह सकते है कि -

FD - सार्वजनिक ऋण तथा अन्य देयतायें = बजेटरी घाटा

या FD = बजेटरी घाटा + सार्वजनिक ऋण तथा अन्य देयतायें

यदि बजेटरी घाटा शून्य हो (जैसा भारत में मिलता है) तो

राजकोषीय घाटा = सार्वजनिक ऋण तथा अन्य देयतायें

इस प्रकार राजकोषीय घाटा सार्वजनिक ऋण में निबल वृद्धि प्रदर्शित करता है। यह अर्थव्यवस्था में ससाधन अन्तराल भी प्रदर्शित करता है। अर्थव्यवस्था की दृष्टि से राजकोषीय घाटा की अवधारणा सबसे महत्वपूर्ण अवधारणा है क्योंकि यह न केवल सरकार की प्राप्तियों तथा व्ययों के बीच अन्तराल प्रदर्शित करता है बल्कि इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि किसी चालू वर्ष में सरकार द्वारा लिये जाने वाले सार्वजनिक ऋण की मात्रा क्या होगी तथा साथ ही यह इस पर भी प्रकाश डालता है कि सरकार पूजी बाजार से कितना ससाधन निकाल रही है जो अन्यथा व्यक्तिगत क्षेत्र के लिये निवेश के लिये उपलब्ध रहे होते।

मूल घाटा

मूल घाटा वह राजकोषीय घाटा है जिसमें से ब्याज अदायगिया कम कर दी गयी है। भारतीय बजट में ब्याज अदायगी की राशि बहुत अधिक है, जिसके परिणाम स्वरूप राजकोषीय

पुराने ऋणोके वास्तविक मूल्य की गिरावट को समाप्त करने में लग जायेगा। इस स्थिति में सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा किया जाने वाला ब्याज का भुगतान जो लेनदारों को ऋण के वास्तविक मूल्य में कमी को पूरा करने के लिए दिया जायेगा वह सरकार की ब्याज लागत नहीं प्रदर्शित करेगा। इतना ही नहीं, कभी-कभी ऋण के मूल्य को स्फीति निर्देशाक के साथ जोड दिया जाता है, इस स्थिति में स्फीति के कारण अधिमूल्यित हो जायेगा, ऐसे में हम PSBR के स्थान पर 'क्रियात्मक घाटे' की अवधारणा को प्रयोग में लाते हैं। क्रियात्मक घाटे को ज्ञात करने के लिए हम PSBR में स्फीतिक समायोजन के लिए ब्याज के कुछ भाग को घटा देते हैं। इसीलिए इसे कभी-कभी हम 'स्फीति समायोजित घाटा' कहते हैं। दोनों के बीच अन्तर महत्वपूर्ण हो सकता हैं। 1985 में ब्राजील में जबकि स्फीतिक दबाव बहुत अधिक था PSBR कुल सकल घरेलू उत्पाद का 27 1 प्रतिशत था, जबकि क्रियात्मक घाटा या स्फीति समायोजित घाटा GDP का केवल 3 5 प्रतिशत ही था।

(ग) **मूल घाटा** - सार्वजनिक ऋणो पर किया गया ब्याज का भुगतान विगत वर्षो में घाटे के परिणमस्वरूप होता है, उसका कोई सम्बन्ध सरकार के वर्तमान व्यवहार से नहीं होता है। इसीलिए यदि हमें सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवहार के कारण उत्पन्न घाटे का आकलन करना हो तो हमें 'ब्याज के रूप के रूप में किये गये सम्पूर्ण

भुगतान को निकाल देना होगा। PSBR मे से हम कुल ब्याज भुगतान को घटा देते हैं तो हमें मूल घाटा प्राप्त हो जाता है।
घाटे की इन विभिन्न धारणाओं के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है-

कुल राजस्व - कुल व्यय = PSBR या राजकोषीय घाटा

PSBR - स्फीतिक समायोजन = क्रियात्मक घाटा

PSBR - कुल ब्याज भुगतान = मूल घाटा

घाटे की माप के इन सभी अवधारणाओं का सरकारी वित्त के आर्थिक प्रभाव के विश्लेषण में अपने महत्व हैं। PSBR सरकारी की घरेलू या विदेशी वित्तीय व्यवस्था की आवश्यकता की माप प्रदर्शित करता है। 'क्रियात्मक घाटा' स्फीति की ऊची दर के कारण उत्पन्न विषमताओं को समायोजित करता है जबकि मूल घाटे की अवधारणा सार्वजनिक क्षेत्र के चालू वर्ष में किये गये व्यवहार के कारण उत्पन्न घाटे की माप प्रस्तुत करता हैं।

हम लोगों ने इसके पूर्व राजकोषीय घाटा तथा बजट घाटा की अन्य सम्बन्धित धारणाओं पर विचार किया, आगे हम सक्षेप में इससे सम्बन्धित कुछ अन्य पहलुओं पर विचार करेंगे।

बजट घाटे सम्बन्धी महत्वपूर्ण धारणायें तथा उनके बीच परस्पर सम्बन्ध

बजट घाटे से सम्बन्धित विभिन्न धारणायें सरकार के बजेटरी व्यवहार पर आधारित है तथा परस्पर सम्बन्धित हैं। राजस्व घाटा जहाँ राजस्व व्यवहारों से उत्पन्न घाटे की स्थिति, या राजस्व प्राप्तियों के ऊपर राजस्व व्यय के आधिक्य की स्थिति को प्रदर्शित करता है वहीं पूजी घाटा सरकार के पूजी व्यवहार से उत्पन्न घाटे की स्थिति को प्रदर्शित करता हैं। राजस्व घाटा तथा पूजी घाटा परस्पर एक दूसरे से इस रूप में सम्बन्धित हैं कि राजस्व खाते मे यदि राजस्व घाटा न हो बल्कि आधिक्य की स्थिति हो तो पूजी घाटा में कमी होगी, बढता हुआ राजस्व घाटा आवश्यक रूप से सरकार की देयताओं तथा फलस्वरूप पूजी घाटा में वृद्धि लायेगा। बजेटरी घाटा राजस्व घाटा तथा पूजी घाटे से अधिक व्यापक धारणा है क्योंकि इसमें सभी बजेटरी व्यवहार सम्मिलित होते हैं।

बढता हुआ राजस्व घाटा, पूजी घाटा तथा बजेटरी घाटा में वृद्धि ला सकता है, यदि सरकार की देयताओं में कोई वृद्धि नहीं हो। इसलिए हम यह कह सकते है कि बढता हुआ राजस्व घाटा आवश्यक रूप से पूजी घाटा तथा बजेटरी घाटा में वृद्धि नहीं लायेगा। बजेटरी घाटा का बढना घाटे के वित्तीय या हीनार्थ प्रबन्ध का सूचक होगा, बजेटरी घाटा की वृद्धि अर्थव्यवस्था में

प्रत्यक्ष रूप से मौद्रीकरण लायेगा। बजेटरी घाटा का शून्य होना (जैसा कि अब भारतीय अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में है) इस बात का प्रतीक है कि सरकार हीनार्थ प्रबन्ध का सहारा नहीं ले रही है यू कहा जाये कि सरकार ऐडहाक ट्रेजरी बिलो के माध्यम से केन्द्रीय बैंको से उधार नही ले रही हैं और सरकारी व्यवहारों के कारण प्रत्यक्ष मौद्रीकरण नहीं हो रहा है, पर इस स्थिति में सार्वजनिक प्रतिभूतियों के रिजर्व बैंक से पुनर्कटौती के कारण परोक्ष मौद्रीकरण हो सकता है। राजकोषीय घाटा की धारणा सबसे व्यापक धारणा है, यह धारणा वास्तव में सरकारी व्यवहार से उत्पन्न समग्र घाटा पर प्रकाश डालती है। चूँकि राजकोषीय घाटा = बजेटरी घाटा + सरकार की देयतायें, इसलिए यह धारणा बजेटरी घाटा से अधिक व्यापक धारणा होगी तथा यदि बजेटरी घाटा शून्य हो तो भी राजकोषीय घाटा होगा। राजकोषीय घाटा वस्तुत सरकार की सम्पूर्ण देयता प्रदर्शित करती हैं।

राजकोषीय घाटा = सरकार की केन्द्रीय बैंक के प्रति देयता (बजेटरी घाटा) + सरकार की देयतायें = सरकार की कुल देयतायें।

इससे पहले कि राजकोषीय सिद्धान्त के विश्लेषणात्मक उपयोगों की चर्चा करें, दो महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये जा सकते है -

(अ) राजस्व घाटे के मापन के लिये राजस्व और व्ययों को कैसे परिभाषित किया जा सकता है।

(ब) किस प्रकार के घाटे के मापन की कोशिश किया जाना चाहिये।

राजस्व और व्यय की परिभाषा

सामान्य धारणा यह है कि राजस्व में सभी वर्तमान प्राप्तिया जो बजट को बढाते हैं तथा सरकार के वित्तीय दायित्वों में वृद्धि नहीं करते जोडे जाते हैं। इस प्रकार जैसा कि परम्परागत रूप से परिभाषित किया गया है कि सभी विदेशी अनुदान, कर तथा गैर कर राजस्व इसमें सम्मिलित होते है। यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या सरकारी परिसम्पत्तियों की बिक्री से प्राप्त प्रतिफल (लाभ) भी इसमें शामिल होने चाहिए? इसका जवाब उस उद्देश्य पर निर्भर करता है जिसके लिए इस उपाय का प्रयोग किया गया है, यदि निबल उधारों से समग्र माग पर बजट के अल्प कालिक प्रभाव को अनुमानित करना है तो परिसम्पत्तियों के बिक्री आय को राजस्व में शामिल किया जा सकता हैं। विकल्प स्वरूप, इस लाभ को पूजी निर्माण व्यय के विरूद्व लिया जा सकता हैं। किसी भी तरह से लाभ को घाटे की पूर्ति के स्रोतो के रूप में नहीं दिखाना चाहिये। इसके बावजूद भी उस स्थिति में जहाँ राजकोषीय घाटा बहुत अधिक लगता है, यदि कोई राजकोषीय सुधार और समायोजन को मापना चाहता है

तो यह उचित होगा कि परिसम्पत्तियों की बिक्री से प्राप्त लाभ को सम्मिलित किये बिना ही घाटे की कमी पर विचार किया जाये।

यह स्पष्ट है कि व्यय पक्ष में सभी वास्तविक व्ययों (वस्तुओं तथा सेवाओं पर व्यय) और भारत सरकार की सचित निधि में से हस्तानान्तरण को सम्मिलित किया जाना चाहिये। एक प्रश्न उठाया जाता है कि क्या सरकार द्वारा दिया गया उधार या वित्तीय निवेश भी व्यय में सम्मिलित होना चाहिये? बजाय इसके क्या इसे कुल उपायों के विरूद्ध नहीं लिया जा सकता है बाद का तरीका इस तर्क पर निर्भर करता है कि सरकार द्वारा लिया गया उधार भी फिर से उधार दिया गया है, यह केवल माध्यमिक स्तर का काम करना है और ऐसे उधार कुल माग में नहीं जोडे जाते हैं (सरकार द्वारा कुल उधारों के निजी व्यय में शामिल होंगे)। यह सत्य है कि राष्ट्रीय खातों की तैयारी में सरकार द्वारा दिये गये कुल उधार को सरकारी खर्च के हिस्से के रूप में नहीं लिया जा सकता है। फिर भी यह तुरन्त नहीं माना जा सकता कि सरकार द्वारा दिये गये उधार कुल माग में वृद्धि नहीं करेगें क्योंकि उधार का वित्तीयन सरकार के द्वारा बैंको, आर0 बी0 आई0 तथा वाहय क्षेत्र से लिये गये ऋण के द्वारा होता हैं। इसलिये यह उचित होगा कि सरकार द्वारा दिये गये

उधार को, राजकोषीय घाटे को मापने के लिए सरकारी व्यय में सम्मिलित किया जाये।[2]

साधारणतया यह तर्क दिया जाता है कि सार्वजनिक क्षेत्र के घाटे को समग्र रूप से मापना चाहिये न कि केवल सरकारी क्षेत्र के घाटे के रूप में, बल्कि यह कहा जा सकता है कि सरकार के सभी स्तरों पर विचार किया जाना चाहिये। यदि केवल सरकारी क्षेत्र के घाटे की बात की जाये तो, सरकार के सभी स्तरों की कुल राजकोषीय घाटे को लेना चाहिये ताकि दोहरी गणना की सम्भावना न हो। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि यदि राज्य सरकारों के पास उधार लेने की स्वतन्त्र शक्ति है तो सघीय या केन्द्रीय सरकार के लिये सम्पूर्ण सरकारी क्षेत्र के घाटे को प्रत्यक्ष तौर पर नियन्त्रण में लेना सभव न होगा। समष्टि स्थिरीकरण के उद्देश्य के लिये मौद्रिक नीति के यन्त्रों द्वारा राज्य सरकारो के दिये गये उधार निजी संस्थाओं के दिये गये उधारों की तरह ही नियमित होंगे। बहुपक्षीय उधार संस्थाओं (जैसे कि आई0 एम0 एफ0) को केवल केन्द्रीय सरकार के राजकोषीय घाटे के आधार पर ही निर्णय करना पडता है।

विश्लेषणात्मक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सार्वजनिक क्षेत्र के घाटे को सम्पूर्ण रूप से विचार में लेने का एक

---

[2] Government – guaranteed privated borrowing is a border line case because it would also stimulate some additional demand It is not how ever longer – term pint of viw it is necessary to take note of the build – up of Governmnet – guaranted debt

महत्वपूर्ण तर्क यह है कि बहुत से देशों में सार्वजनिक उपक्रम सरकार के प्रभावी नियंत्रण में है और अनुकूल शर्तो पर उधार भी ले सकते हैं। सार्वजनिक उपक्रमों के उधारों में एक स्पष्ट या सन्निहित रूप से सरकारी गारण्टी निहित होती है। इसीलिये यह तर्क दिया जाता है कि सरकार द्वारा लिये गये ऋण और उपक्रमों को पुर्नऋण वित्तीयन तथा उपक्रमों द्वारा लिये गये प्रत्यक्ष उधारों में कोई विशेष अन्तर नहीं हैं। भारत के सदर्भ में यह काफी हद तक सही है क्योंकि उपक्रम पूर्ण रूप से स्वतन्त्र भी नहीं है और एक सीमा तक सरकारी उधारों पर आश्रित भी हैं। फिर भी स्वायत्त उद्यमों द्वारा बाजार से लिये गये उधार को सम्मिलित नहीं करना चाहिये और इस विषय में सतर्क रहना चाहिये कि इसका विस्तार इतना न होने पाये जिससे कि घाटे के मापक को किसी उपयोगी विश्लेषण या नीतिगत उद्देश्यों के लिये प्रयोग में न लिया जा सके।

विभिन्न मदों की प्राप्तियों और व्ययों के समावेश या अपवर्जन के सदर्भ मे, राजकोषीय घाटे को परिभाषित करते समय कुछ वैचारिक मतभेद हो सकते हैं। किन्तु बजट के प्रभावों की समीक्षा के सदर्भ में एक सर्वमान्य सहमति बनी हुयी हैं। प्रो0 आनन्द पी0 गुप्ता नें एक नया विचार रखा –[3]

---

[3] Reforming deficit measurement The Indian case E P W , 20 Feb 1993, p 346

''इस मुद्दे पर हमारा विचार यह है कि देश के सार्वजनिक क्षेत्र के घाटों की गणना के समय, वित्तीय परिसम्पत्तियों की कुल प्राप्ति और कर्जो की समाप्ति को भी सम्मिलित करना चाहिये। ऐसा इसलिये है क्योंकि घाटे को सार्वजनिक क्षेत्र के वित्तीय आवश्यकताओं के मापक के रूप में माना जाता है और यह इस भूमिका को पर्याप्त रूप से नहीं निभा सकता क्योंकि कुछ निश्चित व्यय अपेक्षित हैं अथवा वित्तीय परिसम्पत्तियों की उधारी और प्राप्तियों निवल रूप में दिखायी गयी हैं।

यह स्पष्ट नहीं है कि सर्वमान्य उपाय क्या सकेत करता है? अन्य शब्दों में इसका विश्लेषणात्मक उपयोग क्या है? क्या यह हमें बजट के समष्टि आर्थिक प्रभाव का विचार देगा? सम्भवत प्रो0 गुप्ता कहेंगे कि उन्होंने जो कहा है वह सार्वजनिक क्षेत्र के वित्तीय आवश्यकताओं के मापन को प्रदर्शित करेगा। फिर भी जरूरत है वित्तीय आवश्यकताओं के पर्याप्त एव उचित परिभाषा की।

राजकोषीय घाटे के सिद्वान्त की सीमायें

राजकोषीय घाटे के अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष के परम्परागत परिभाषा को स्वीकार करते हुए इसकी सीमाओं की चर्चा करना अधिक प्रासगिक होगा।

(अ) सार्वजनिक क्षेत्र के बजट के विस्तारकारी प्रभाव के मापन के लिये समग्र बजट शेष या राजकोषीय घाटा का प्रयोग यह सकेत करता है कि व्यय के प्रत्येक प्रकार के एक रूपये का भी समान प्रभाव होगा, कहने का अर्थ यह है कि एक रूपये का माग पर विस्तारकारी प्रभाव और उसी प्रकार से ऊपर इगित राजस्व के प्रत्येक प्रकार के एक रूपये का अबस्फीतिकारी प्रभाव होगा या निजी भाग में एक रूपये के बराबर की कटौती होगी। इसका अर्थ हे कि शेष बजट गुणक शून्य होगा, लेकिन ऐसा नहीं हें। उदाहरण के लिये हस्तानान्तरण अदायगी के सदर्भ में प्रभाव हस्तानान्तरण तथा प्राप्तकर्ता के उपभोग का अनुपात होगा।

वस्तुओं के व्यय के सदर्भ में प्रभाव 1 1 का होगा। आयकर का भुगतान माग को घटायेगा, लेकिन इसका विस्तार केवल आयकर अदाकर्ता के उपभोग में उपभोग की सीमात प्रवृत्ति और भुगतान के गुणनफल तक ही सीमित होगा। अन्य सदर्भो में, जैसे कि विदेशी अनुदान का घरेलू माग पर कोई नकारात्मक प्रभाव नहीं होगा। इसी प्रकार बाहर किये गये व्ययों का घरेलू माग पर कोई विस्तारकारी प्रभाव नहीं होगा, लेकिन विदेशी विनिमय के माग के सम्बन्ध में इसे जोडा जायेगा और इस सीमा तक इसे एक विस्तारकारी प्रभाव कहा जा सकता हैं। वास्तव में बजट शेष को प्राप्त करना लाभकारी हो सकता है और तब जब कि इसे घरेलू

और विदेशी शेष से निकाल कर पूरित कर दें। इस प्रकार बजट शेष को निम्न रूप में दिखाया जा सकता है-

प्राप्तिया	व्यय
1 घरेलू राजस्व	3 घरेलू निर्मित व्यय
2 विदेशी अनुदान	4 विदेशो में किया गया व्यय

बजट शेष = $(3+4) - (1+5) = 5$ (लिया गया निबल उधार)

अत $1+2+5 = 3+4$

इसलिए $(3-1)+(4-2)=5$

$(3-1)$ = घरेलू शेष (डी० बी०) और $(4-2)$ = विदेशी शेष (एफ० बी०)

घरेलू शेष = 5+2-4 और विदेशी शेष = 5 + 1 - 3

बजट शेष के गैर महत्वकारी स्वरूप के सदर्भ में जैसा कि पहले ही सीमायें उल्लिखित की गयी हैं, यह कहा जा सकता है कि घरेलू शेष, घरेलू माग पर विस्तारकारी प्रभाव का सकेत करता है और विदेशी शेष, भुगतान सतुलन पर पडने वाले सीधे प्रभाव को। यह कहा जा सकता है कि समग्र रूप से लिया गया राजकोषीय घाटा, समग्र समष्टि आर्थिक प्रभाव की ओर सकेत करता है। यह भी मानना चाहिये कि घरेलू शेष, घरेलू माग पर अपने प्रभाव से भुगतान शेष को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है।

(ब) राजकोषीय घाटे की एक लक्ष्यगत चर के रूप में दूसरी सीमा यह है कि यह अन्तर्मुखी चर हैं। सार्वजनिक व्यय का स्तर राष्ट्रीय आय के स्तर के साथ बदलता है, जो दिये हुये कर सरचना के अन्दर राजस्व के स्तर को निर्धारित करता है। इस पर भी, एक अर्थ में, सरकार पूरी तरह इसका नियत्रण नहीं कर सकती। राजकोषीय प्रबन्धन के उचित परिभाषा को निर्धारित करना भी आसान नहीं है, जो कि एक देश के लिए जरूरी हैं। यदि वास्तविक घाटे में बडी कटौती की कोशिश की जाये तो आने वाले समयावधि में आय कम हो सकती है। कभी - कभी यह सुझाव दिया जाता है कि दिये हुये राजस्व सरचना में व्यय को इस प्रकार प्रबधित किया जाये कि पूर्ण रोजगार की दशा के अन्दर एक परिकल्पित सतुलन (शून्य घाटा) प्राप्त हो। विटोतन्जी का मत है कि यह सीमा विकासशील देशों के लिये बहुत महत्व नहीं रखती।[4] यह इसलिये माना जाता है क्योंकि विकासशील देशों के लिये यह बहुत महत्व नहीं रखती।यह इसलिये माना जाता है क्योंकि विकासशील देश प्रभावी घरेलू माग में कमी के कारण मन्दी के शिकार नहीं होते हैं।

(स) राजकोषीय घाटे के सिद्धान्त की तीसरी सीमा यह है कि यद्यपि यह भुगतान शेष के चालू खाते में घाटे पर बजट प्रभाव का प्रमुख सकेतक है, फिर भी यह घरेलू माग पर

---

[4] **Measurement of fiscal Deficit Examined in How to Measure the fiscal Deficit, reproduced in IMF Survey 26 July 1993**

पडने वाले प्रभाव का सही-सही प्रतिचित्रण नहीं कर सकता है, चाहे कोई इसके केवल घरेलू शेष भाग पर ही क्यों न विचार करें। ऐसा इसलिये है क्योंकि घाटे का वित्तीयन करने वाले विभिन्न स्रोतों जैसे आर0 बी0 आई0 क्रेडिट, वाणिज्यिक बैंको से उधार, घरेलू क्षेत्र से उधार, विदेशी वित्तीय सहायता और अन्य, के माग पर विभिन्न मात्रात्मक प्रभाव होते हैं। आर0बी0आई0 क्रेडिट की दी हुयी मात्रा का प्रभाव इसके वित्तीय प्रबधन की सरचना पर निर्भर करेगा और जिसके कारण आसानी से इसे परिमाणित नहीं किया जा सकता हैं। उपरोक्त कारणों से ही भारत में केन्द्रीय बैंको के उधार पर अधिक ध्यान दिया जाता है जिसे मौद्रीकृत घाटा कहा जाता हैं।

राजकोषीय समायोजन और घाटों के प्रकार – राजकोषीय समायोजन करने के लिये तीन प्रकार के घाटों पर विचार करने की आवश्यकता पडती हैं।

पहला राजकोषीय घाटा। उपरोक्त विचार किये गये अनेक सीमाओं के बावजूद, राजकोषीय घाटा अभी भी बजट के समष्टि आर्थिक प्रभाव का सबसे अच्छा उपलब्ध सकेतक हैं। दो अन्य कारणों से भी राजकोषीय घाटे के निरीक्षण और इसे व्यवस्थित करने की आवश्यकता होती हैं। एक कारण यह है कि सरकारी उधार की प्रकृति निजी निवेश को ''क्राउड आउट'' करती है, जिसके कारण ससाधनों के बटवारे में विकृतिया आती हैं। इसके अतिरिक्त, यदि

सरकारी उधार के प्रयोग अपेक्षतया अनुत्पादक उद्देश्यों के लिये हैं, जैसे बजट के चालू खाते में घाटे की पूर्ति के लिये, तो बढे हुये सरकारी उधार का तात्पर्य होगा कि अर्थव्यवस्था में पूजी निर्माण का विस्थापन होगा जो कि सवृद्धि के दर में कमी लायेगा।

राजकोषीय घाटे को महत्व देने का दूसरा कारण यह है कि सरकार द्वारा लिया गया निबल उधार सार्वजनिक ऋण को बढाता है। जबकि सार्वजनिक ऋण के परिमाण में वृद्धि स्वय में कोई चिन्ता का विषय नहीं है, किन्तु सार्वजनिक ऋण में तीव्र वृद्धि से ऋण जी0डी0पी0 अनुपात में वृद्धि होगी जो एक सीमा के बाद अर्थव्यवस्था के लिये हानिकारक होगा।

दूसरे प्रकार का घाटा राजस्व घाटा है, जिसे राजस्व व्यय (विशेष रूप से ऐसे सरकारी व्यय जो पूजी निर्माणनहीं करते) तथा राजस्व प्राप्तियों के बीच अन्तर से परिभाषित किया जाता है। अर्थात जब राजस्व व्यय, राजस्व प्राप्तियों से अधिक होगा तो राजस्व घाटे की उत्पत्ति होगी। समग्र व्ययों को राजस्व व्यय और पूजीगत व्ययों में विभाजित (जैसा कि बजट में दिखाया जाता है) किया जाता है और यह राष्ट्रीय खाते में परिभाषित राजस्व व्ययों और पूजीगत वययों के विभाजन की तरह दृढ नहीं होता। यदि बजटीय व्ययों को चालू और पूजीगत व्यय के रूप में पुनर्वर्गीकृत करें तो सरकार के बचत और अबचत के मापक को प्राप्त किया जा सकेगा।

कई अर्थशास्त्री विशेषतया अमेरिका के, बजट को चालू तथा पूजी खाते में विभाजन को पसन्द नहीं करते हैं। वे विश्वास करते हैं कि इस प्रकार विभाजन गलत धारणा को जन्म देता है कि पूजीगत व्यय सवृद्धि को बढायेगा और इस कारण उधारों के द्वारा इसे वित्त पोषित किया जा सकता है। और इसी प्रकार चालू व्यय, राजस्व के द्वारा आवश्यक रूप से वित्त पोषित हैं। उदाहरण के लिये विन्टो तन्जई नें तर्क दिया है कि राजस्व घाटे का सिद्धान्त गम्भीर रूप से त्रुटिपूर्ण हैं।[5] किन्तु उनके द्वारा दिये गये तर्क भी अप्रमाणित हैं। उनका पहला तर्क यह है कि चाहे सरकार चालू व्यय या निवेश पर खर्च करे, व्यय का अल्पकालीन प्रभाव देश के भुगतान शेष पर समान होगा और इसके कारण चालू तथा पूजीगत व्यय के बीच बनाये गये अन्तर और सरकारी चालू खाते में शेष की व्युत्पत्ति का कोई उपयोग नहीं हैं। तन्जई सम्भवत इस बिन्दु को भूलते हैं कि राजस्व घाटे के सिद्धात का प्रयोग भुगतान शेष या घरेलू माग पर पडने वाले प्रभाव को अनुमानित करने के लिये नहीं किया जाता बल्कि यह सुनिश्चित करने के लिये किया जाता है कि क्या सार्वजनिक उपभोग और चालू हस्तान्तरण के कारण सरकार का पुनरावर्तित व्यय चालू राजस्व से पूरी तरह प्राप्त हो जाता है। लोक वित्त सिद्धात में यह अच्छी तरह स्वीकृत है कि सार्वजनिक वस्तु की

---

[5] I Bit

कीमतों को कर की प्राप्ति से चुकाना चाहिये, जो कि जनसख्या द्वारा उपभोगित वस्तुओं पर लगाया जाता है। बेशक, व्यय के कुछ विशेष प्रकारों और चालू व्ययों के वे भाग जो भविष्य में लाभ प्रदान करें, जैसे कि शिक्षा और स्वास्थ पर, उधारों के द्वारा पूरित किया जा सकता है। फिर भी, विकासशील देशों में यह आवश्यक है कि चालू व्यय अधिकाशत चालू राजस्व से प्राप्त हो ताकि आर्थिक अनुशासन बना रहे। दूसरा, सरकारी खातों पर बचत का मापन जरूरी नहीं है कि यह प्रदर्शित करे कि बचत आर्थिक सवृद्धि में सहायता करता है, जैसा कि तन्जी कहते हैं। राष्ट्रीय लेखाकारों जो कि बचत को मापते हैं वे इस बात पर जोर नहीं देते कि बचत आवश्यक रूप से सवृद्धि में गति लाती हैं। किसी भी स्थिति में बिना सरकारी खाते पर बचत और अबचत को मापे हुये कोई भी राष्ट्रीय बचत की माप नहीं कर सकता हैं।

तीसरा, राजस्व घाटे के सिद्धात को उपेक्षित अथवा अस्वीकार करना सरकारी वित्त के समक्ष गम्भीर परिणाम खडा कर सकता है, जैसा कि भारत में प्रचलित हैं। केन्द्रीय सरकार के स्तर पर सरकार के निबल उधारों के एक बडे भाग (लगभग 48%) का उपयोग राजस्व घाटे का वित्तीयन करने में किया जाता है। इसी समय राजकोषीय समायोजन के कार्यक्रम की आवश्यकता राजकोषीय घाटे को कम करने के लिये होती है। यदि राजस्व घाटे

में कमी नहीं होती है, तो राजकोषीय घाटे में कमी केवल सरकार के पूजी निर्माण में कमी से ही हो सकता है जो कि आर्थिक सवृद्धि के लिये खतरनाक हैं। तन्जई बेशक इस आधार पर सही हैं कि शिक्षा और स्वास्थ्य पर चालू व्यय, पूजी व्यय की ही तरह महत्वपूर्ण है किन्तु दूसरी तरफ, सरकारी खातों पर पूजी निर्माण को अनुत्पादक योजनाओं में लगाया जा सकता है, लेकिन आधारभूत सरचना पर, विद्यालयों पर, अस्पताल इत्यादि पर सरकारी पूजी निर्माण, सवृद्धि और कल्याण के लिये आवश्यक है। राजकोषीय समायोजन के दौरान इस प्रकार के व्ययों को सरक्षित रखना चाहिये। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अधिकारियों ने भारत सरकार द्वारा राजकोषीय घाटे को कम करने के लिये पूजी निर्माण में किये गये कटौती पर अपनी नाराजगी व्यक्त किया हैं। इस प्रकार कम से कम यह सन्निहित है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष सस्था भी राजस्व घाटे में कमी को वरीयता देता है।

विकासशील देशों में कम से कम यह आवश्यक है कि एक नियम व्याख्यित किया जाये कि सरकार के राजस्व व्ययों का एक छोटा हिस्सा, मुख्यत जो शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे अतिरिक्त सेवाओं के प्रावधान से जुडते है, उसकी पूर्ति सरकारी उधारों द्वारा की जाये।

नीति निर्माण की दृष्टि से तीसरे प्रकार का घाटा मौद्रीकृत घाटा है, अर्थात सरकार को आर0बी0आई0 द्वारा दिया जाने वाला उधार। बजट में प्रदर्शित कुल बजटीय घाटा मौद्रीकृत घाटे का सही आकार नहीं बताता है। मौद्रीकृत घाटा अतिरिक्त मुद्रा की उस मात्रा को प्रदर्शित करता है जिसका निर्माण सरकार को दिये गये उधार के परिणमस्वरूप होता है। यहा व्यवस्था को विशेष महत्व देने का न्याय सगत तर्क है और यदि आवश्यकता हो तो स्फीतिकारी दबावों को नियन्त्रित करने के लिये मौद्रिक घाटे में कमी भी की जाये। इस प्रकार के घाटे की मात्रा, उस मात्रा से ज्यादा न हो जो विवेकपूर्ण स्थिर दशा के अदर सवृद्धि के कारण नकद की अतिरिक्त माग की जरूरत को पूरा करता हो। इस सम्बध में एक प्रश्न पूछा जाता है कि किसी दिये हुये वर्ष में सरकार, को दिये गये आर0बी0आई0 उधार का मापन कैसे किया जाये? सरकारी बजट केवल किसी दिये हुये वर्ष के 31 मार्च तक के अतिरिक्त उधारों को प्रदर्शित करता हैं। आकडे सदिग्ध हो सकते है यदि कुछ कृतिम उपायों का प्रयोग वर्ष के अन्त में एक छोटे समय के लिये बकाये उधार को कम करने के लिये किया गया हो। जिसके कारण वार्षिक स्तर के अन्त की बजाय, उधार के औसत स्तर, (जैसे कि प्रत्येक सप्ताह के अन्तर में औसत बकाया उधार) का प्रयोग किया जा सकता हैं।

मारियो आई० ब्लेजर (marıo I Bleȷer) और एडरिनी केस्टी (Adrıenne Cheasty) ने अपनी पुस्तक ''हाऊ टू मीजर द फिजकल डेफिसिट'' में घाटे के अन्य प्रकार से मापन के लिये विधियों को बनाया है, जो कि दीर्घकालीन परिदृश्य में उपयोगी हो सकता है, यदि सरकार के निबल मूल्य मे परिवर्तन होता है तो इसे महत्वपूर्ण समझा जाये। एक लेख में शीर्षक ''द डेफिसिट ऐैज ऐन इण्डीकेटर आफ गवर्नमेण्टस सालवेन्सी-चेन्ज इन पब्लिक सेक्टर नेटवर्थ'' के तहत लेखकों ने निष्कर्ष निकाला है कि एक सरकार का भुगतान सामर्थ्य इसकी परिसम्पत्तियों तथा दायित्वों के मूल्य में परिवर्तनों के साथ-साथ मुद्रास्फीति, मुद्रा अवमूल्यन तथा व्यापार की शर्त में परिवर्तन से प्रभावित होता है। जिसके कारण, लेखकों नें तर्क दिया है कि सरकार के दीर्घकालीन पोषणीयता के सकेतक के रूप में अन्य राजकोषीय घाटे के मापदण्डो को लेना जरूरी है। राजकोषीय घाटे का यह मापन सरकार या सार्वजनिक क्षेत्र के अबचत के समतुल्य होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि इसके निबल मूल्यों में कमी होगी (यह राष्ट्रीय खातों में मापी गयी सरकार के बचत या अबचत से अलग होगी)। सरकार के निबल मूल्य में परिवर्तन की गणना के लिये आवश्यक है कि इसकी परिसम्पत्तियों तथा दायित्वों में परिवर्तन के साथ-साथ आकस्मिक दायित्वों और भविष्य के कर कार्यक्रमों के वर्तमान मूल्य, को ध्यान में रखा जाय। सार्वजनिक क्षेत्र

के सम्पूर्ण रूप से निबल मूल्य में परिवर्तन की गणना एक बडा कार्यभार होगा। फिर भी सरकार का निबल मूल्य स्वय में कोई बडे महत्व का नहीं हैं। सरकार का दिवालियापन बेशाक एक बडे महत्व की चीज हैं। फिर भी दिवालियेपन की दशा को कर वृद्धि द्वारा आमूल रूप से बदला जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान के लिये भारत में बढते उल्लिखित घाटे के तीन तरीको पर ध्यान देना चाहिए अर्थात समग्र राजकोषीय घाटा, राजस्व घाटा और मौद्रिक घाटा।

राजकोषीय घाटा और सार्वजनिक ऋण में वृद्धि

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है राजकोषीय घाटा का माग पर अल्पकालिक प्रभाव और भुगतान शेष पर प्रभाव तथा इस तथ्य के साथ कि यह सार्वजनिक ऋण में वृद्धि करता है। एक बृहद राजकोषीय घाटे का वितरणात्मक अर्थ भी है कि यह निजी निवेश में कमी करता है।

जी0डी0पी0 की अपेक्षा सरकारी उधार में अधिक तीव्र वृद्धि से आशय है कि सरकार का जी0डी0पी0 से घरेलू उधारी के अनुपात में वृद्धि, निजी क्षेत्रों के प्रयोग के लिए उपलब्ध घरेलू बचत की मात्रा में कमी करना है विशेष रूप से तब जबकि बचत की दर में वृद्धि नहीं हो रही हो। इसके अतिरिक्त, यद्यपि कि सरकार विशेष प्रावधानों के तहत पहले के तरीके से ही बचत कर

सकती है, जैसे कि भारत में विधिक तरलता अनुपात (एस0एल0आर0), सरकारी उधार की प्रवृत्ति में वृद्धि, ये सभी ब्याज की दर में वृद्धि करनी है जो परिणामस्वरूप सवृद्धि दर को प्रभावित करती है।

प्रो0 गुलाटी ने तर्क[6] दिया है कि राजकोषीय घाटे पर सकेन्द्रण और ऋण में वृद्धि एक उचित नीतिगत नजरिये को प्रस्तुत नहीं करता हैं। अपने प्रस्ताव के समर्थन में उनके दो तर्क है-

1) जैसा कि डोमर नें चालीस के दशक में कहा था कि यदि राष्ट्रीय आय में तेजी से वृद्धि होती हौ तो सार्वजनिक ऋण पर ब्याज कीमतों को अदा करने में कोई परेशानी नहीं होगी। कहने का अर्थ है कि हमें ऋण में वृद्धि की बजाय सवृद्धि अथवा विकास की दर में वृद्धि के विषय में अधिक सोचना चाहिए।

2) दूसरा तर्क यह है कि सरकार द्वारा ब्याज अदायगी, जो राजस्व के अधिकाश भाग को शोषित कर लेती है, के लिए कर राजस्व में मद वृद्धि और ब्याज प्राप्तियों की धीमी पुन प्राप्ति और सरकार पर बढती लाभांश की मात्रा जिम्मेदार हैं।

---

[6] I S Gulati Tackling the growing burden of public debt, Economic and political weekly 1st May 1993

गुलाटी के पहले तर्क के सदर्भ में, यह उल्लेखनीय है कि डोमर कीन्सवाद के चरम उत्कर्ष के दिनों में लिख रहे थे, जब यह माना जाता था कि अचानक अभिवृद्धि और मदी से बचा जा सकता था और सरकार के राजकोषीय सतुलन में जोड-तोड करके निरन्तर विकास की प्रक्रिया को सुनिश्चित किया जा सकता था। 1960 से आर्थिक नीतियों के अनुभव नें यह दिखाया कि राजकोषीय नीतिया, मुद्रा स्फीति के बिना प्रभावकारी रूप से निश्चित विकास नहीं कर सकती, जैसा कि पहले विश्वास किया जाता था। आर्थिक अनुभवों से यह भी सबक लिया गया है कि सवृद्धि को सापेक्षिक समष्टि आर्थिक स्थायित्व की दशा में आसानी से प्राप्त किया जा सकता है जिसके तहत अधिक सरकारी माग मुद्रास्फीति कारकों में वृद्धि नहीं करते है और सरकार देश के अधिकाश ससाधनों और बचतों को उपयुक्त तरीके से प्रयुक्त करे। भारतीय परिदृश्य में, राजकोषीय और राजस्व दोनों प्रकार के घाटों को सही ढग से काम करने की जरूरत है क्योंकि ऐसे उपायों की आवश्यकता मुद्रा स्फीति को नियन्त्रित करने तथा सवृद्धि को बढाने के लिये होती हैं।

यह सच है कि, सरकारी राजस्व के कुल ब्याज अदायगी का अनुपात 80 के दशक के दौरान सतत् रूप से धीरे-धीरे बढा। इसका कारण राजस्व के कुल ब्याज अदायगी के हिस्से में

वृद्धि तथा सरकार को मिलने वाली ब्याज प्राप्तियों तथा लाभ के हिस्से में आनुपातिक गिरावट हैं। ब्याज की पुर्नप्राप्ति की दर के गिरावट का प्रमुख कारण न केवल सरकारी निवेश (जो साधारणत पर्याप्त वापसी लाभ पैदा नहीं करते) है, बल्कि उधारों के एक बडे भाग का राजस्व घाटे की पूर्ति के लिए उपयोग करना भी है (लगभग 48%)। (घटनावश, सबसे ऊची आर्थिक विकास की दर आजादी के बाद अस्सी के दशक में नोट की गयी जब ऋण और ब्याज भार बहुत ज्यादा बढ गया था, जिसके परिणाम स्वरूप कुछ वर्षो के लिए विकास प्रक्रिया लगभग रूक गयी थी)। यह स्पष्ट नहीं है कि गुलाटी हमें सार्वजनिक ऋण में वृद्धि के विषय में थोडा बहुत निश्चिन्त रहने के लिए क्यों कहते है, जबकि हम सब यह जानते है कि सरकारी उधारों को उत्पादनीय निवेशों (बिना आर्थिक रिसाव के) में सुनिश्चित करने तथा सार्वजनिक उद्यमों से पर्याप्त प्रतिफल लाभ को प्राप्त करना सबसे कठिन काम है, जिसका सामना हम कर रहे हैं। क्या हम राज्य सरकारों को, उदाहरण के लिये, ठीक ढग से कह सकते है कि उन्हे अपने बढते हुए कर्ज की ज्यादा चिन्ता नहीं करनी चाहिए जबकि हम सब यह जानते है कि सरकार, उधारों का ही हिस्सा सरकारी नौकरों को वेतन देने में खर्च कर रही है और इसके बदले में अपने विद्युत विभाग, सडक, परिवहन निगम और सिचाई विभाग (वाणिज्यिक) से थोडे से लाभ प्राप्ति की उम्मीद करना

दूर की चीज है? उनके यदि दूसरे बिन्दु सदर्भ लें, अर्थात, सरकारी राजस्व में वृद्धि की गति मन्द रही है, यह उल्लेखनीय है कि केन्द्रीय और राज्य सरकारों का राजस्व अनुपात एक साथ 1980-1981 के 17 5 प्रतिशत से बढकर 1991-92 में 19 7 प्रतिशत हो गया, कहने का तात्पर्य यह है कि 2 2 प्रतिशत की वृद्धि हुयी। इस प्रकार की वृद्धि मद नहीं कही जा सकती है। अगर राजस्व अनुपात में एक प्रतिशत की भी वृद्धि होती है तो सरकारी राजस्व से निबल ब्याज अदायगी का अनुपात भी बहुत अधिक होगा। राजस्व अनुपात को यदि एक तरफ कर दिया जाय तो, (यदि कोई अस्सी के दशक की राजस्व वृद्धि की दर को देखे तो), यह प्रमाणित होगा कि राजस्व की वृद्धि दर अस्सी के दशक में बहुत ज्यादा थी क्योंकि इस दशक में आय वृद्धि दर सबसे ज्यादा थी और राजस्व में वृद्धि आय से ज्यादा हुयी (लगभग 16 प्रतिशत प्रतिवर्ष)। बिना इस बात को समझे कि कोष किस उद्देश्य के लिए बना है, भारत के लोगों से इस बात की उम्मीद करना कि वे जी0डी0पी0 का बढता हुआ अनुपात कर के रूप में दे देगें, अन्याय पूर्ण होगा।

इसके अलावा आर्थिक दृष्टि से राजस्व अनुपात में ऐसी बढत न तो ऐच्छिक है और न ही सम्भव। जैसा कि मैने पहले ही सकेत किया है, राजस्व व्यय का केवल एक छोटा हिस्सा ही उधारों की पूर्ति के रूप में प्रयोग लाना चाहिए। प्रो0 गुलाटी फिर

से निरीक्षण करते हुए राजकोषीय घाटे की मात्रा कम करने के लिए सार्वजनिक उधारों की कमी पर जोर, तथा सरकारी खर्चे के उत्पादनीय प्रयोग, चालू राजस्व के परिवर्तन प्राप्तियों कें गतिशीलन और सरकारी व्ययों में सम्पूर्ण कमी के द्वारा राजकोषीय नीतियों के परिवर्तन पर ध्यान दिया। चूकि सार्वजनिक उधार और राजकोषीय घाटा एक ही वस्तु की तरह है, एक में कमी का मतलब दूसरी में कमी है। वास्तव में गुलाटी का यह सोचना है कि घाटे में कमी राजस्व को बढाकर करनी चाहिए न कि सरकारी खर्च में कमी करके। यह निश्चित है कि अधिकतर देशवासी उनकी इस बात से सहमत नहीं होंगे। यद्यपि वे उनकी इस बात का समर्थन करेगें कि बढते हुए सरकारी व्यय को महत्वपूर्ण क्षेत्रो में लगाने के ज्यादा अवसर है। सरकार का ध्यान बेकार के अनुदानों, हानिकारक सार्वजनिक उद्यमों को भुगतान में कमी की सम्भावना और विस्तृत नौकरशाही के वित्त प्रबन्धन में कमी की ओर खींचा गया है। वास्तव में, केन्द्रीय सरकार की नीति एक विवेकपूर्ण और सुधरी हुई कर प्रणाली के द्वारा पोषणीय राजस्व की वृद्धि है के रूप मे होनी चाहिए, जो ज्यादा प्रभावशाली ढग से लागू की जा सके।

राजकोषीय घाटा तथा अर्थव्यस्था पर प्रभाव

हम देख चुके है कि राजकोषीय घाटा सरकार की देयता प्रदर्शित करता है इसलिए प्रश्न यह उठता है कि बढते हुए

राजकोषीय घाटा का क्या प्रभाव अर्थव्यवस्था पर पडता है। बढता हुआ राजकोषीय घाटा अर्थव्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित करता है? बढता हुआ राजकोषीय घाटा क्या हमेशा खराब होता है? राजकोषीय घाटा की वृद्धि क्या स्फीतिकारी होती है और इसकी कमी आवश्यक रूप से स्फीति में कमी लायेंगी। किसी अर्थव्यवस्था के सदर्भ में पोषणीय घाटा की क्या सीमा होगी? ये अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा गभीर प्रश्न है जो राजकोषीय घाटे की धारणा के साथ जुडे है। इन पर विचार करना आवश्यक है। यहाँ हम इन प्रश्नों पर सक्षेप पर विचार करेंगे।

बढता हुआ राजकोषीय घाटा सरकार की उधारी में वृद्धि प्रदर्शित करता है, बढते हुए ऋण दायित्व के साथ ब्याज अदायगी में वृद्धि होगी फलस्वरूप राजस्व घाटा बढेगा जो राजकोषीय घाटे में और वृद्धि लायेगा और यदि अर्थव्यवस्था में सकल घरेलू उत्पाद की सवृद्धि दर ब्याज दर से अधिक नहीं हुयी तो राजकोषीय घाटा पोषणीय नही होगा और इसके कारण एक ओर मुद्रा स्फीति को बल मिलेगा वहीं दूसरी ओर आयात प्रोत्साहित होने तथा निर्यात के हतोत्साहित होने के कारण प्रतिकूल भुगतान सतुलन बढेगा और अर्थव्यवस्था 'ऋण जाल' में फॅस जायेगी। बढता हुआ राजकोषीय घाटा पूजी बाजार से ससाधनों को निकालता (क्राउड आउट) है जो अन्यथा निजी क्षेत्र के विनियोग के लिए उपलब्ध हुए होते। ऐसी

अर्थव्यवस्था में जहाँ विकास की भागीदारी में निजी क्षेत्र पर बल हो वहाँ बढता हुआ राजकोषीय घाटा उचित नही होगा। इतना ही नहीं बढता हुआ राजकोषीय घाटा अन्तरिक तथा वाह्य स्थिरता को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है। बढता हुआ राजकोषीय घाटा अर्थव्यवस्था में समग्र माग में वृद्धि लाता है फलस्वरूप मूल्य स्तर में वृद्धि (स्फीति में वृद्धि) उत्पन्न होती है। आन्तरिक मूल्य स्तर में वृद्धि के परिणामस्वरूप एक ओर हतोत्साहित होता है वहीं दूसरी ओर मौद्रिक आय में वृद्धि तथा सार्वजनिक व्यय के परिणामस्वरूप आयात में वृद्धि होगी फलस्वरूप उपभोग वस्तुओं की कमी के कारण स्फीतिक दबाव और बढेगा।

क्या बढता हुआ राजकोषीय घाटा हमेशा ही अर्थव्यवस्था को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करेगा? सामन्यतया यह स्वीकार किया जाता है कि बढता हुआ राजकोषीय घाटा अर्थव्यवस्था को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है। जैसा हम लोगों ने देखा कि बढते हुये राजकोषीय घाटे के कारण सरकार की देयता में वृद्धि होती है, देयता मे वृद्धि जहाँ एक ओर अर्थव्यवस्था को ऋण जाल (ऐसी स्थिति जिसमें उसपर ब्याज दायित्व की अदायगी के लिये भी ऋण लेना पडे) में फँसा देती है, वहीं दूसरी ओर इसके कारण जनित प्रत्यक्ष तथा परोक्ष मौद्रीकरण अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि लाता है। फलस्वरूप बढता हुआ राजकोषीय घाटा स्फीतिक प्रवृत्ति

तथा आन्तरिक स्थिरता में वृद्धि ला सकती है। हम यह भी देख चुके है कि बढता हुआ राजकोषीय घाटा अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र के निवेश के लिये बचत की उपलब्धता में कमी लायेगी फलस्वरूप ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें निजी क्षेत्र पर ज्यादा बल हो उस अर्थव्यवस्था में निवेश, उत्पादन, रोजगार आदि प्रतिकूल रूप से प्रभावित होंगे। हम यह भी देख चुके है कि राजकोषीय घाटा जन्य आन्तरिक अस्थिरता वाह्यय अस्थिरता में भी फैल जाती है, चालू खाते के घाटे में वृद्धि होता है। आन्तरिक तथा वाह्यय अस्थिरता के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था गभीर आर्थिक सकट में फँस सकती है।

पर यह कहना कि बढता हुआ राजकोषीय घाटा हमेशा ही खराब होगा और अर्थव्यवस्था को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करेगा ठीक नहीं है। कहाँ तक राजकोषीय घाटा अर्थव्यवस्था के लिए खराब सिद्व होगा यह वास्तव में दो बातों पर निर्भर करेगा। पहला, अर्थव्यवस्था के क्रियाशीलन का आर्थिक तथा राजनैतिक दर्शन जो यह बतायेगा कि आर्थिक विकास के लिये रास्ता बाजार यत्र तथा निजी क्षेत्र का है या राज्य की सक्रिय आर्थिक भूमिका का है। यदि अधिक बल सार्वजनिक क्षेत्र पर हो तो इस आर्थिक स्ट्रेटजी के परिपालन में राजकोषीय घाटा की मात्रा का अधिक होना स्वाभाविक है तब क्राउडिग आउट की बात नही उठेगी। दूसरा राजकोषीय घाटा का ढाचा अर्थात राजकोषीय घाटा के परिणाम स्वरूप जो सरकार की

देयता मे वृद्धि आयी है वह किन प्रकार के व्ययों की मात्रा में वृद्धि के कारण है। यदि राजकोषीय घाटा इसलिए बढा है क्योंकि अवस्थापना के विकास के लिये सरकारी व्यय आवश्यक है या इसलिए बढा है क्योंकि गरीबी निवारण तथा जीवन के गुणवत्ता में सुधार के लिये सार्वजनिक व्यय अपरिहार्य रहें है या यू कहिए कि राजकोषीय घाटा की वृद्धि के लिये न्यायोचित सामाजिक तथा आर्थिक आधार रहे है तो बढते हुए राजकोषीय घाटा को बिल्कुल अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कहने का अर्थ यह है कि राजकोषीय घाटा का आकार महत्वपूर्ण नहीं, महत्वपूर्ण है उसकी गुणवत्ता का पहलू।

प्रश्न यह उठता है कि क्या राजकोषीय घाटा में कमी लाने में मुद्रा स्फीति में कमी सुनिश्चित होगी। चूकि मुद्रा स्फीति मूल्य स्तर में सचयी तथा लगातार वृद्धि को प्रदर्शित करती है तथा जो अर्थव्यवस्था में समग्र माग में वृद्धि, वस्तुओं की पूर्ति में कमी या साधनों की लागत में वृद्धि या तीनो के कारण उत्पन्न होगी, इसलिए बढता हुआ राजकोषीय घाटा स्फीतिकारी होगा यदि सार्वजनिक व्यय समग्र माग में तो वृद्धि लाये पर उसके अनुरूप उत्पादन में वृद्धि नहीं लाये, ससाधनों की क्राउडिग आउट के कारण निजी क्षेत्र के विनियोजन में कमी तथा फलस्वरूप उत्पादन में कमी आये और सरकारी उधारी पर नीची प्रतिशत ब्याजदर पूजी बाजार में निजी क्षेत्रो द्वारा प्राप्य पूजी पर ब्याज दर को ऊची कर दे फलस्वरूप उनकी

लागत बढ जाये। स्पष्ट है कि यदि राजकोषीय घाटा में कटौती के उपाय सरकार के अनुत्पादक व्ययों में कमी लाये जिससे समग्र व्यय में तो कमी आये पर उत्पादन में कमी नही आये, सरकार की बाजार उधारी में कमी जो निजी क्षेत्र के विनियोजन में वृद्धि लाये तथा परिणाम स्वरूप उत्पादन में वृद्धि आये तथा यदि राजकोषीय घाटे में कमी के लिये करारोपण में जो वृद्धि आये उससे अर्थव्यवस्था में उत्पादन हतोत्साहित नहीं हो तथा यदि सरकार अपनी उधारी की ऊपरी सीमा निर्धारित कर दे तथा सरकारी प्रतिभूतियों पर ब्याज दर को बाजार ब्याज दर के साथ जोड दे तो निश्चित रूप से राजकोषीय घाटे में कमी अर्थव्यवस्था में स्फीतिक दबाव में कमी ला सकती है अन्यथा नही।

पोषणीय राजकोषीय घाटा

राजकोषीय घाटा को हम बजेटरी घाटा + सरकार की देयताओं में वृद्धि के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। राजकोषीय घाटा की वित्तीय व्यवस्था तीन स्रोतों से की जा सकती है- (क) नयी मुद्रा के निर्गमन या मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि (ख) आन्तरिक सार्वजनिक ऋण व्यवस्था (ग) विदेशी ऋण।

राजकोषीय घाटा को पूरा करने या उसके वित्तीयन के प्रत्येक स्रोत की अपनी सीमा है क्योंकि प्रत्येक स्रोत अर्थव्यवस्था पर किसी न किसी रूप में बोझ डालता है। प्रत्येक

विधि का प्रयोग यदि एक सीमा से अधिक किया गया तो आर्थिक सकट उत्पन्न होगा। जब राजकोषीय घाटा की मात्रा वित्तीयन के प्रत्येक स्रोत के अलग-अलग या समग्र रूप में सन्दर्भित सीमा के भीतर ही रहने दे और इस प्रकार अर्थव्यवस्था में उत्पन्न बोझ का पोषण स्वय कर ले तो हम कहेंगे कि राजकोषीय घाटा पोषणीय है। अपोषणीय घाटा निश्चित रूप से 'ऋणजाल' की स्थिति उत्पन्न कर देगा। अपोषणीय घाटा की स्थिति यह प्रदर्शित करती हे कि अर्थव्यवस्था राजकोषीय घाटे से उत्पन्न बोझ को वहन करने मे समर्थ नहीं है। यदि राजकोषीय घाटा की आपूर्ति के लिये मुद्रा के निर्गमन का सहारा लिया गया तो इससे मौद्रिक माग सृजित होगी, वास्तविक राष्ट्रीय आय की वृद्धि के ऊपर जो माग का आधिक्य होगा वह अर्थव्यवस्था में मुद्रा स्फीति को जन्म देगा और यह जनता पर अनिवार्य स्वभाव का स्फीतिक करारोपण होगा, जो अधिकाशतया प्रतिगामी स्वभाव का होगा, मुद्रा के निर्गमन या स्फीतिक करारोपण की क्या सीमा होगी यह इस बात पर निर्भर करेगी कि हम स्फीति की कितनी दर को सुरक्षित या स्वीकार्य मानते है, जिसका निर्णय आर्थिक, राजनैतिक तथा अन्य कारकों पर निर्भर करेगा, स्पष्ट है कि राजकोषीय घाटा की वह मात्रा जो नोट निर्गमन को इस सीमा तक जाने के लिए बाध्य कर दे कि स्फीति की दर स्फीति की सुरक्षित सीमा पार कर जाये तो हम कहेंगे कि राजकोषीय घाटा पोषणीय नहीं

है। यदि राजकोषीय घाटा का वित्तीयन बाजार उधारी या सार्वजनिक ऋण की उगाही से किया गया तो राजकोषीय घाटा अपोषणीय होगा, यदि ब्याज की दर सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर से अधिक हो। इस स्थिति में 'स्फीति कर' के ऊपर प्राथमिक मूल घाटे का आधिक्य अर्थव्यवस्था को ऋणजाल में ला देगा। दूसरे शब्दो में अत्यधिक ऊँचा ऋण जीडीपी अनुपात सरकार को बाध्य करेगा कि वह मौद्रीकृत ऋण या स्फीतिकारी वित्त का सहारा ले और अर्थव्यवस्था ऋण जाल में होगी। यदि सरकार राजकोषीय घाटा की पूर्ति के लिये विदेशी ऋण का सहारा ले तो राजकोषीय घाटा तब पोषणीय होगा, जबकि निर्यात की वृद्धि दर ब्याज दर से अधिक हो। एक बात और उल्लेखनीय है और वह यह है कि यद्यपि राजकोषीय घाटा पोषणीय हो फिर भी वह इष्टतम नहीं हा सकता क्योंकि राजकोषीय घाटे के कारण क्राउडिग आउट होगा जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक विकास में कमी हो सकती है।

अध्याय-4

भारत में बजटीय घाटा की प्रवृत्ति तथा सरकारी प्रयास

(Trends of Budgetary Deficit in India and Government Effort)

प्रथम दो अध्यायों में हम लोगों ने यह स्थापित किया कि 1991 का आर्थिक सकट पश्चकालीन विकृत आर्थिक नीतियों के सचयी परिणामों की द्योतक थी, जिसके कारण अर्थव्यवस्था में समष्टिगत आर्थिक असन्तुलन उत्पन्न हुआ। परिणामत विकास का आर्थिक यत्र ही ध्वस्त हो गया जिसके प्रमुख कारण के रूप में काफी हद तक सरकार के द्वारा समय समय पर लिये गये अविवेकपूर्ण ऋण रहे है जिसने अर्थव्यवस्था पर बढते हुये ब्याज भुगतान दायित्वों में सचयी वृद्धि की जिसने परिणामस्वरूप घाटे के स्वरूपों को विस्तृत ऋणात्मकता प्रदान की और इनका उपयोग भी निश्चित तौर पर अनुत्पादक रहा। यदि सरकार द्वारा लिये गये आन्तरिक तथा वाह्य ऋणों का प्रयोग उत्पादकीय रहा होता तो निजी क्षेत्र के लिये "क्राउड आउट" स्थिति होने के बावजूद भी आर्थिक स्वरूप अर्थव्यवस्था के अनुकूल होता। सामान्य तौर पर हम यह कह सकते हैं कि सरकार के द्वारा लिये जाने वाले ऋण, जिसे हम विशेष

शब्दो में राजकोषीय घाटा भी कह सकते है, की पोषणीयता ही यह निर्धारित करेगी कि अर्थव्यवस्था का समष्टिगत आर्थिक स्वरूप कैसा होगा।

वर्ष 1991 के आर्थिक सकटो के कार्य- कारण सम्बन्धों की आन्तरिक विश्लेषणता के पश्चात राजनीतिक अस्थिरता से निपटने के बाद • बनी काग्रेस सरकार ने क्रमबद्ध तरीके से इस सकट को दूर करने के लिये कई प्रभावी आर्थिक नीतियों की घोषणा की।

इन नीतियों में प्रमुख योगदान तत्कालीन प्रधानमत्री पी0 वी0 नरसिहमाराव तथा वित्तमत्री डा0 मनमोहन सिह का रहा जिसके कारण इस नीति के विकास माडल को 'राव-मनमोहन माडल' की सज्ञा भी दी जाती है।

भारत में घाटे की प्रवृत्ति

सकल राजकोषीय घाटा जो 1970 के मध्य और 1975-76 में 4 1 प्रतिशत था सकल घरेलू उत्पाद का केवल 4 प्रतिशत तथा 80 के दशक के प्रारम्भ में लगभग 6 प्रतिशत हो गया। यह 1984 - 85 में बढकर 7 5 प्रतिशत हो गया तथा इसमें तीव्र वृद्धि कायम रहते हुये 1985-86 के बाद से यह 8 प्रतिशत से भी अधिक हो गया।

वर्ष 1990-91 के घोर आर्थिक सकट के दौरान राजकोषीय घाटा सकल घरेलू उत्पाद का 8 4 प्रतिशत हो गया था।

किन्तु 1990-91 के बाद सार्वजनिक व्यय में कटौती, कर आधार का विस्तार तथा कर राजस्व में वृद्धि, केन्द्रीय सार्वजनिक उद्यमों की बजट पर आश्रितता में कमी, सार्वजनिक ऋणों के मौद्रीकरण की सीमा का निर्धारण जिसके अन्तर्गत ऐडहाक ट्रेजरी बिल्स के स्थान पर अर्थोपाय अग्रिमों को लागू करना, एस0 एल0 आर0 को घटाकर 25 प्रतिशत पर लाना, सार्वजनिक प्रतिभूतियों पर ब्याज दर के निर्धारण को माग एव पूर्ति की शक्तियों पर छोडना, सार्वजनिक क्षेत्रो द्वारा विनिवेश तथा फिजिकल रिसपान्सबिल्टी बिल को लाना आदि कुछ ऐसे सुधारात्मक कदम सरकार ने उठाये जिससे राजकोषीय घाटे की बढती हुई प्रवृत्ति पर नियत्रण तथा कमी लाने में सरकार सफल रही है। वर्ष 1991-92 से वर्तमान तक राजकोषीय घाटे की प्रवृत्ति को सारणी 4 1 मे प्रदर्शित किया गया है।

राजकोषीय समेकन का कार्य, जो आर्थिक सुधारों के पैकेज में एक प्रमुख तत्व है, अभी भी अपूर्ण है। आर्थिक सुधारों के चरों में, विशेष रूप से राजकोषीय घाटे के समेकन में अपर्याप्त प्रगति हुई है।

सारणी - 41

राजकोषीय घाटे की प्रवृत्ति

वर्ष	बजट अनुमान (करोड रूपया)	वास्तविक (करोड रूपया)	जी0डी0पी0 के प्रतिशत रूप मे
1991-92	37727	36325	5 4
1992-93	34408	40173	5 2
1993-94	36959	60257	6 3
1994-95	54915	57703	4 6
1995-96	57634	60243	4 1
1996-97	62266	66733	4 0
1997-98	65454	88973	4 7
1998-99	91025	103737	4 5
1999-2000	104955	108898	5 6
2000-2001	111275	111972	5 1
2001-2002	116314	131721	5 7
2002-2003	135524	-	5 3

स्रोत- आर्थिक समीक्षा 2002-03

नब्बे के दशक के मध्य में राजकोषीय घाटे में कमी के कुछ लक्षण दिखने के पश्चात, वर्ष 1997-98 से राजकोषीय घाटा पुन बढना प्रारम्भ हो गया। वर्ष 1990-91 में सकल घरेलू उत्पाद के 6 6 प्रतिशत से कम होकर वर्ष 1996-97 में 4 1 प्रतिशत हो जाने के पश्चात् राजकोषीय घाटा वर्ष 1997-98 में 4 8 प्रतिशत हो गया और बर्ष 2001-02 में और बढकर 5 9 प्रतिशत हो गया (सारणी 4 2)। अपेक्षाकृत उच्च्व राजकोषीय घाटों के परिणामस्वरूप सवृद्धि में निरूद्धता के अतिरिक्त सरकारी उधार अपेक्षाकृत अधिक हुये हैं।

राजस्व घाटा जो यह प्रदर्शित करता है कि सरकार अपने उपभोग व्यय को पूरा करने के लिये अपनी पूजी का कितना भाग उपभोग कर रही है या उधारी का सहारा ले रही है। 70 के दशक के अन्त तक केन्द्र सरकार के राजस्व खाते में 'आधिक्य' की स्थिति थी अर्थात सरकार अपने उपभोग व्यय से अधिक राजस्व प्राप्त करती थी जिसका प्रयोग पूजी निर्माण में करती थी। अस्सी के दशक से राजस्व घाटा एक सामान्य प्रतिभास बन गया। पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी तथा पाचवी योजना के दौरान राजस्व खाते में अतिरेक की स्थिति थी। वर्ष 1974-75 से 1978-79 के दौरान 2671 70 करोड रूपये का आधिक्य था लेकिन उसके बाद

सारणी- 4 2

केन्द्रीय सरकार के घाटे के सूचकों की प्रवृत्तिया

वर्ष	राजस्व घाटा	प्राथमिक घाटा	राजकोषीय घाटा
(सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में)			
1990-91	3 3	2 8	6 6
1991-92	2 5	0 7	4 7
1992-93	2 5	0 6	4 8
1993-94	3 8	2 2	6 4
1994-95	3 1	0 4	4 7
1995-96	2 5	0 0	4 2
1996-97	2 4	-0 2	4 1
1997-98	3 1	0 5	4 8
1998-99	3 8	0 7	5 1
1999-2000	3 5	0 7	5 4
2000-01	4 1	0 9	5 6
2001-02	4 2	1 4	5 9
2002-2003	3 9	0 7	5 5

स्रोत- आर्थिक सर्वेक्षण, भारत सरकार, 2002-2003

छठी योजना में 9157 70 करोड रूपया, सातवी योजना अवधि में 46905 करोड रूपया, आठवी योजना में 145875 करोड एव नवीं योजना के दौरान राजस्व घाटा 295315 करोड रूपया था।

राजस्व घाटा जो 1990-91 में सकल घरेलू उत्पाद का 3 47 प्रतिशत था, वर्ष 1995-96 में 2 52 प्रतिशत, 1996-97 में 2 40 प्रतिशत, 1997-98 में 3 06 प्रतिशत 1998-99 में 3 85 प्रतिशत, 1999-2000 में 3 77 प्रतिशत था, उसमें सतत् रूप से वृद्धि होते हुए बजट वर्ष 2000-01, 2001-02 और 2002-03 में क्रमश 3 55 प्रतिशत, 4 प्रतिशत, तथा 3 8 प्रतिशत हो गया।

राजस्व घाटा, जो वर्ष 1990-91 में राजकोषीय घाटे का 49 4 प्रतिशत था, वर्ष 2001-02 में राजकोषीय घाटे के 70 2 प्रतिशत के लिये उत्तरदायी था।

सरकारी प्रयास - समष्टिगत आर्थिक स्थिरता तथा 1991 के आर्थिक सकट के बाद सरकार के द्वारा किये गये वित्तीय क्षेत्र में सुधार, सरकारी प्रयासों की श्रृखला में एक महत्वपूर्ण कडी के रूप में थे।

आर्थिक वित्तीय सुधारों का परिक्षण करने के लिये सर्व प्रथम हमें आर्थिक सकटो की उस पृष्ठभूमि में जाना चाहिए जिनके कारण भारतीय अर्थव्यवस्था की सतोषजनक सवृद्धि में कमी आ

गयी थी। वर्ष 1990 के प्रारम्भ में जो घाटा केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारों के स्तर पर था, वही स्थिति 1990 के अन्त में भी बनी रही। सरकारी ऋण की स्थिति नियत्रण के बाहर हो रही थी, लगभग सभी राज्य सरकारें बजट की कमी के कारण आवश्यक सेवाओं की भी पूर्ति नहीं कर पा रही थी। बजट के पूजीगत व्ययों में तीव्र कमी दृष्टिगोचर हुयी और साथ ही साथ सरकारी क्षेत्र की बचत अपने न्यूनतम स्तर पर थी जो लगभग नगण्य थी। वित्तीय क्षेत्रो की जटिलता का प्रश्न अन्य क्षेत्रो के समष्टिगत चरो से जुडा हुआ है यह काफी हद तक व्यय तथा कर सरचना, अलोकप्रिय लेकिन आर्थिक दृष्टि से उचित कदम उठाने की राजनैतिक प्रतिबद्धता की कमी आदि पर निर्भर करता है।

करों में सुधार की प्रक्रिया विशेषत अप्रत्यक्षकर, केवल वित्तीय ढाचे से ही सम्बन्ध नहीं रखते है बल्कि ये अन्य क्षेत्रो में जैसे विदेश व्यापार नीति, विदेशी निवेश के लिए अर्थव्यवस्था को खोलना, वित्तीय क्षेत्रो में सुधार आदि से सम्बन्ध रखते है अत वित्तीय क्षेत्र के सुधारों को अन्य क्षेत्रो के सुधारों से भी जोडा जाना चाहिए।

कर के प्रशासनिक ढाचे में सुधार आधुनिक व्यवस्था की मागों के अनुरूप किये जाने चाहिए यहा तक कि इन्हे सुधारों की मनोभावना से भी जोडा जाना चाहिए।

इधर बीच ब्याज भुगतान, पेंशन, रक्षाब्यय राज्यों को वित्तीय हस्तातरण आदि इस अनुपात में बढे है कि ब्यय आवटन में सुधारों की बहुत ही कम गुजाइश रह गयी है क्योंकि ये सभी ब्यय सविदात्मक एव अनिवार्य होते है।

कृषि आयकर, खाद्य अनुदान में कमी, सरकारी कर्मचारियो की सख्या में कटौती आदि कुछ ऐसे अलोकप्रिय मुद्दे है जिन पर सरकार अपनी राजनीतिक अकाक्षाओं के कारण कडे कदम नहीं उठाती बल्कि सस्ती लोकप्रियता को प्राप्त करने के लिए तरह तरह की उद्घोषणा करती है, जो कि निश्चित तौर पर अनुत्पादक ब्ययों के माध्यम से वित्तीय बोझ को सचयी रूप से बढाती है। वित्तीय सुधारों को लागू करने में राजनीतिक अस्थिरता भी प्रमुख बाधक कारक के रूप में कार्य करती है, जैसा कि 1990 के दशक में परिलक्षित हुआ।

यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि सरकार के राजकोषीय अथवा वित्तीय घाटे को कम करने के लिये हम तीन प्रभावी तरीकों का प्रयोग कर सकते है- एक तरफ हम सरकार की राजस्व आय में प्रभावी कर सुधारों तथा अन्य उपायो के माध्यम से वृद्धि करके राजकोषीय घाटे के बढते हुए परिमाण को नियत्रित कर सकते है जिसे हम सरकार के राजस्व प्रबन्धन की सज्ञा दे सकते है, वहीं दूसरी तरफ सरकार के अनुत्पादक ब्ययों में प्रभावी

कटौती करके बढते हुए राजकोषीय घाटे को सीधे तौर पर रोक सकते है, इस प्रक्रिया को हम सरकार का व्यय प्रबधन कह सकते है।

अन्त में, राजकोषीय घाटे को अगर सीधे एव सरल अर्थो में परिभाषित किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि यह समग्र रूप से सरकार के निबल वित्तीय दायित्वों को अथवा लिये गये सार्वजनिक ऋण को ही प्रदर्शित करता है।[1] अत यदि सरकार बढते हुए सार्वजनिक ऋण, जो कि निश्चित रूप से राजस्व खाते में ब्याज भुगतान के माध्यम से ऋण जाल और अन्य दुष्प्रभावित परिणामों को उत्पन्न करता है, को पोषणीय रूप से नियत्रित करे तो भी वित्तीय घाटे पर प्रभावी अवरोध बनाया जा सकता है, इसे हम व्यय प्रबन्धन कह सकते है। इसके सक्षिप्त रूप को आरेख सख्या 4 1 में दिखाया गया है।

यहा एक तथ्य सदर्भित है कि सरकार यदि उपरोक्त तीनों प्रबन्धनों में से किसी एक का प्रभावी प्रयोग करती है तो उसके परिणामों को परिलक्षित होने में समय लग सकता है, किन्तु सरकार यदि घाटे पर नियन्त्रण और कमी करने के लिये त्रिआयामी प्रबधन तरीकों का प्रयोग करती है तो ऐसा नही लगता है कि

---

[1] एस0 एन0 लाल, लोक वित्त, पृष्ठ संख्या - 32

राजकोषीय घाटे का नियत्रण एव कमी
ाजस्व प्रबन्धन
ब्यय प्रबन्धन
सार्वजनिक ऋण प्रबन्धन
ुधार
विनिवेश
गैर कर आय में वृद्धि
दायित्वविहीन प्राप्तियों में वृद्धि
अप्रत्यक्षकर
अनुत्पादक व्ययों में कमी
अनुदान में कमी
रक्षा व्यय में कमी
सरकारी नौकरी में कटौती
बाजार ब्याज दर पर सरकार द्वारा ऋण लिया जाना
ब्याज दर में कटौती
विनिवेश आय तथा सचित विदेशी विनिमय कोष से उच्च ब्याज दर वाले ऋणों के भुगतान की व्यवस्था
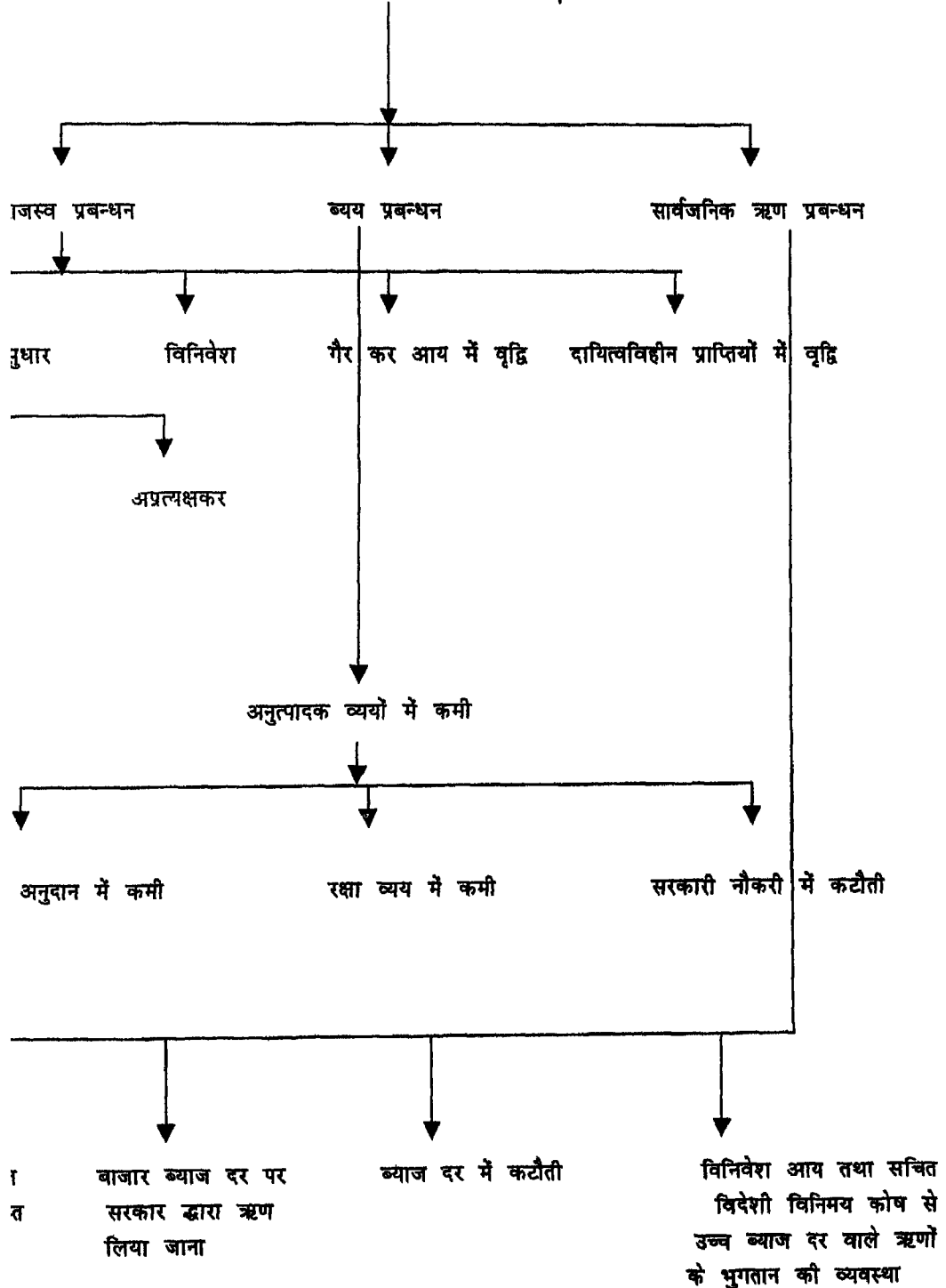
सरकार को निहित लक्ष्यों को प्राप्त करने में अधिक प्रतीक्षा करनी होगी।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर भारत सरकार के द्वारा आर्थिक सुधारों की श्रृखला में उठाये गये कदमों को निम्न शीर्षको में विभाजित किया जा सकता है।

कर सुधार

वर्ष 1990 के दशक में उठाये गये कर सुधर मुख्यत चेलैया समिति की सिफारिशो पर आधारित थे। इन सुधारो का लक्ष्य मुख्यत कर प्रणाली का सरलीकरण, कर की दरों को विवेकपूर्ण बनाना, कर ढाचे में पारदर्शिता, कर प्रशासन में सुधार आदि थे। कर सुधार प्राय निम्नाकित दिशाओ में किया गया-

(क) कर प्रणाली को कर की दरों में आवश्यक समायोजन के साथ, विशेषरूप से व्यक्तिगत करारोपण तथा वस्तु करारोपण के सम्बन्ध में, अधिक उचित तथा विस्तृत आधार देना।

(ख) प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों ही करों के सम्बन्ध में कर राजस्व लोच को बढाने तथा कुल कर राजस्व में प्रत्यक्ष कर के अनुपात को बढाना।

(ग) करारोपण के लिये नये क्षेत्र की पहचान करना जिससे कर आधार में वृद्धि हो सके।

(घ) कृषि क्षेत्र के करारोपण की सम्भावना पर विचार।

(च) सशोधित मूल्य बर्धित कर (माडवैट) को और फैलाना।

(छ) उत्तम कर अनुपालन तथा प्रशासन की दृष्टि से उत्पादन शुल्क के ढाचे को युक्तिसगत तथा सरल बनाना।

(ज) विभिन्न करों के साथ जुटी हुयी रियायतों तथा छूटों को समाप्त करना या कम करना जिससे कि वे कर अपवचन का माध्यम न बन सकें और इनके परिणामस्वरूप राजस्व हानि को कम किया जा सके।

(झ) अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगितात्मक शक्ति को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य तथा साधनो के गतिशीलता को बढाने के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुये प्रशुल्क के स्तर या सीमा शुल्क को नीचे लाने का प्रयास करना।

(ट) कर नियम को सरल बनाना तथा कर प्रशासन को प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयास करना।

वर्ष 1990-91 से 2002-03 के बीच कर सुधार की दिशा में सरकार के द्वारा विभिन्न बजटों में जो कदम उठाये गये है उन्हे हम तीन भागों में रख सकते है-

(क) प्रत्यक्ष करारोपण के क्षेत्र में,

(ख) परोक्ष करारोपण की दिशा में,

(ग) कर प्रशासन में सुधार की दृष्टि में,

प्रत्यक्ष करों के सम्बन्ध में सुधार.

आय कर के सम्बन्ध में कर मुक्त आय की सीमा जो 1991 में 22,000 रू0 थी, वह वर्तमान में (2002-03 बजट के बाद) 50,000 रूपया हो गयी है, रेट स्लैब जो 1991 चार था, वह इस समय घटकर तीन हो गया है तथा अधिकतम सीमान्त दर जो 1990-91 में 56 प्रतिशत (अधिभार के साथ) था 2002-03 में अधिभार के साथ 31 5 प्रतिशत हो गया।

छोटे तथा फुटकर व्यापारियों, यातायात चालकों तथा असगठित (अपजीकृत) क्षेत्र के लोगों की आय कर के दायरे में लाने के लिये सरकार प्रकल्पित कर लागू किया पर इसे समाप्त कर दिया गया। लेकिन अधिकाश लोगों को कर के दायरे में लाने के लिये सरकार ने ''छ में से एक'' स्कीम लागू की जिसके अनुसार जो भी व्यक्ति उल्लिखित 6 में से अब कोई एक भी शर्त पूरी करता है तो उनके लिये आयकर विवरणी फार्म 2c भरना अनिवार्य है। उल्लेखनीय है कि इन 6 में से टेलीफोन धारिता की दशा को समाप्त कर दिया गया है।

अस्तिकर तथा उपहार कर को पहले ही समाप्त कर दिया गया क्योंकि सरकार की दृष्टि में इन करों की लाभदेयता कम थी। वर्ष 1991 में एक ओर कर के वितरणात्मक पहलू पर बल कम दिया गया तो दूसरी ओर निजी क्षेत्र को बढावा देने तथा

वित्तीय निवेशो को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया गया। इसलिए 1991 के बाद उत्पादक सम्पतियों जिनमें बैंक जमा, अशपत्र तथा अन्य प्रतिभूतिया सम्मिलित हैं, को सम्पत्ति कर की सीमा के बाहर कर दिया गया तथा सम्पत्ति कर की मुक्त सीमा को 15 लाख रूपये कर दिया गया।

निगम कर की सीमा को घरेलू कम्पनियों के सम्बन्ध में 35 प्रतिशत तथा विदेशी कम्पनियो के सम्बन्ध में 40 प्रतिशत कर दिया गया जो 1991 में क्रमश 45 प्रतिशत तथा 50 प्रतिशत था।

कृषि क्षेत्र में प्राप्त कषि आय प्रत्यक्ष करारोपण के दायरे में बनी रही। इस क्षेत्र में जो सुधार हुआ वह केवल इससे सम्बन्धित रहा कि जहा चेलैया समिति (1991) की रिपोर्ट के पूर्व कृषि क्षेत्र से प्राप्त आय तथा गैर कृषि क्षेत्र से प्राप्त आय को आयकर के लिये जोडने की व्यवस्था पर, यह जुडी हुयी आय तभी करारोपित होती थी जबकि गैर कषि से प्राप्त आय कर देय सीमा से ऊपर हो, अर्थात कर देय सीमा के ऊपर वाले व्यक्ति की सम्पूर्ण कृषि आय चाहे जो भी हो करारोपित होती थी, 1991 के बाद चेलैया समिति की सिफारिशो के बाद यह व्यवस्था की गयी कि

कृषि क्षेत्र की आय, गैर कृषि आय में जोडी जायेगी जबकि कृषि आय 25 हजार रूपये से अधिक हो।[2]

परोक्ष करारोपण के क्षेत्र में सुधार

वर्ष 1991 के बाद परोक्ष करारोपण के क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक तथा प्रभावी परिवर्तन किये गये। इन सुधारों को तीन खण्डों में विभक्त कर सकते है-

सीमा शुल्क

वर्ष 1991 के पहले सीमा शुल्क अत्यन्त ही ऊँचा था और किसी-किसी स्थिति में तो तीन सौ प्रतिशत से भी अधिक था। आयातित आगत की लागत, प्रतियोगिता तथा कुशलता बढाने, भारतीय उपभोक्ताओं द्वारा कम मूल्य दिये जाने जिससे स्फीति के दबाव कम हो सके, सीमा शुल्क को धीरे-धीरे कम करने का प्रयास किया गया। वर्ष 1991 में ही सीमा शुल्क की दर को 50 प्रतिशत तक घटा दिया गया तथा सीमा शुल्क की दरों को घटाकर 12 कर दिया गया। वर्ष 1991 से जो इस दिशा में प्रयासों की प्रक्रिया शुरू हुई, एक दशाब्दि में इस स्थिति को प्राप्त हो गयी कि 2002-03 में वित्त मत्री ने यह घोषणा कि 2002-03 में इसकी उच्चतम दर को घटाकर 30 प्रतिशत कर दिया गया है तथा ऐसी उम्मीद की जाती है कि 2004-05 तक सीमा शुल्क की दो ही दरे

---

[2] R.J Chelliah (1991) , Tax Reform Committe Report , 1991

प्रचलित होंगी- 10 प्रतिशत की बेसिक दर जो कच्चा माल, माध्यमिक वस्तुए तथा कम्पोनेन्टस से सम्बन्धित होगी तथा 20 प्रतिशत सीमा शुल्क जो मुख्य रूप से तैयार वस्तुओं से सम्बन्धित होगी।

उत्पादन शुल्क

वर्ष 1986-87 की बजट में वैट (मूल्य वर्धित कर) की एक सशोधित प्रणाली लागू की गयी जिसे माडीफाइड वैट या माड वैट कहा गया। माड वैट ने उत्पादन शुल्क प्रणाली में ही वैट की ही तरह अपलिखन तथा कटौती की व्यवस्था शुरू किया। इसमें यह व्यवस्था की गयी कि किसी उत्पादक इकाई ने उत्पादक क्रिया में प्रयुक्त आगत पर जो उत्पाद दिया है उसे उसके कुल कर दायित्व से घटा दिया जायेगा। इसके साथ ही माडवैट के साथ विशिष्ट कर प्रणाली के स्थान पर मूल्यानुसार कर प्रणाली लागू की गयी।

माडवैट के उत्पादन शुल्क प्रणाली में वैट के रूप में प्रत्यारोपित तो किया गया किन्तु आगत तथा निर्गत के सम्बन्ध में अलग-अलग तथा बहुत सारी दरें होने के कारण वस्तुओं के वर्गीकरण को लेकर झगडे तथा जनित भ्रष्टाचार की समस्या बनी रही। वर्ष 2000-01 के बजट में 8,16 तथा 24 को मिलाकर 16 प्रतिशत की एक आधारभूत या मानक उत्पादन शुल्क दर लागू की

गयी जो लगभग सभी उत्पादन शुल्क योग्य वस्तुओं के साथ लागू की गयी। सेनवैट भी मैन्युफैक्चरिंग अवस्था तक ही है और वास्तविकता यह है कि केन्द्र ने इसे सेनवैट कहा है। इस प्रकार सेनवैट माडवैट का एक रूप हुआ और इसे भी उत्पादन शुक्ल प्रणाली में ही प्रत्यारोपित किया गया, अन्तर केवल इतना है कि सेनवैट प्रणाली में 16 प्रतिशत की एक आधारभूत दर प्रचलित होगी।

सरकार चाहकर भी इसे आगे फुटकर विक्रय तक नहीं ले जा सकती थी क्योंकि सविधान की व्यवस्था के अनुसार वह केन्द्र सरकार की सीमा के बाहर है। हाईस्पीड डीजल तथा पेट्रोल को छोडकर सभी आगतों पर जो अन्त्य वस्तुओं के विनिर्माण में प्रयुक्त होती है, प्रदत्त कर के सम्बन्ध में समायोजन सुविधा उपलब्ध है। 2000-01 के बजट में सरकार ने सेड की तीन दरों को समाप्त करके 16 प्रतिशत की एक दर कर दी है।

केन्द्र सरकार पूर्ण वैट लागू करने का प्रयास कर रही है जिससे कि कर उत्प्लावकता में वृद्धि होने की सम्भावना है इस दिशा में केन्द्र सरकार सभी राज्य सरकारों के साथ मिलकर 1 अप्रैल 2003 से वैट लागू करने का प्रयास कर रही थी, लेकिन राजनैतिक महत्वाकाक्षा के कारण अभी तक इस पर कोई सहमति नहीं हो पायी है।

भारत में कर सुधारों का मूल्याकन करते हुये विश्व बैंक ने अपनी रिपोर्ट, जनवरी 2000 में जहा भारत के कर सुधारों के आर्थिक तटस्थता, समानता, आय अनुमानता (वास्तविक/बजट अनुमान), प्रशासनिक दक्षता आदि क्षेत्र में सतोष प्रकट किया है वहीं दूसरी ओर कर उत्प्लवता और आय स्थिरता में गिरावट भी दर्ज की है।

राज्यों के लिये वित्तीय सुधार कार्यक्रम

राज्यों के वित्तीय घाटे को अनुशासित करने के लिये समय-समय पर राष्ट्रीय विकास परिषद् वित्त आयोग, योजना आयोग आदि आर्थिक मचों द्वारा सुझाव दिये और अपनाये गये हैं।

राष्ट्रीय विकास परिषद् में वित्तमत्री एव राज्यों के मुख्यमत्रियों के मध्य यह तय हुआ कि केन्द्र और राज्य, राज्यों के घाटे को कम करने के लिये सयुक्त प्रयास करेंगे और इसके लिये एक मध्यावधि ब्यूह रचना अपनायी गयी। इस मध्यावधि ब्यूह रचना के अन्तर्गत केन्द्र सरकार राज्यों को एक अग्रिम वित्तीय सहायता प्रदान करेगी जिसके प्रत्युत्तर में राज्य एक समयबद्ध कार्यक्रम के तहत सुधारों को लागू करेंगें। इस आशय के साथ केन्द्र और राज्य सरकारों के मध्य समझौता ज्ञापन हस्ताक्षरित किया जायेगा। अभी तक केवल 13 राज्य ही इस समझौते में शामिल हुये हैं।[3] ये

---

[3] ए0के0सिंह पब्लिक फाइनेंस पृष्ठ संख्या - 113

राज्य क्रमशः पंजाब, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, नागालैण्ड, मिजोरम, उडीसा, सिक्किम, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, असम, आन्ध्र प्रदेश तथा जम्मू-कश्मीर हैं। इस कार्यक्रम का मुख्य लक्ष्य राज्यों के मध्यावधि राजस्व घाटे को समाप्त करना है। इस कार्यक्रम के निम्नांकित बिन्दु हैं -

1 गैर आयोजनगत व्ययों में कमी लाना

2 आवटन कुशलता को बढाने के लिये तथा वित्तीय बोझ को राज्यों से कम करने के लिये मूल्यों/अनुदान में सुधार

3 सार्वजनिक सेवाओं की कुशलता में वृद्धि के लिये संस्थागत सुधार

4 गैर आवश्यक क्षेत्रों में सरकारी भूमिका में कमी।

दसवें और ग्यारहवें वित्त आयोग द्वारा हस्तान्तरण

राज्यों के राजस्व घाटे को कम करने के लिये तथा वित्तीय हस्तान्तरण को विवेकपूर्ण बनाने के लिये दसवें तथा ग्यारहवें वित्त आयोगों ने अपनी सिफारिशों में आमूलचूल परिवर्तन किया है।

वैकल्पिक योजना में दसवें वित्त आयोग ने यह प्रस्ताव रखा कि केन्द्र के कुल राजस्व का 29 प्रतिशत भाग यथोचित संवैधानिक संशोधन के द्वारा राज्यों को हिस्सों के रूप में दिया जाना चाहिए तथा इस अनुपात का पुनरावलोकन प्रत्येक 15 वर्ष

पर होना चाहिए। आयोग ने यह भी तर्क रखा कि वैकल्पिक योजना के लागू होने के बाद ऐसे करों की उत्प्लावकता के परिणामस्वरूप राज्य लाभान्वित होंगे जो अब तक विभाजन योग्य नहीं थे जैसे निगम कर आदि।

ग्यारहवें वित्त आयोग ने यह सुझाव दिया कि सघीय सूची में उल्लिखित सभी करों तथा शुल्कों की निबल प्राप्ति का 28 प्रतिशत राज्यों के बीच आवटनीय समग्र अश होगा, पर इसमें सविधान की धारा 268 तथाा 269 में उल्लिखित कर तथा शुल्क नहीं आयेंगे। और चूंकि 80वें सशोधन के बाद धारा 272 को समाप्त कर दिया गया है इसलिये एडीशनल इक्साइज डयूटीज एक्ट 1957 के अन्तर्गत लगाये गये अतिरिक्त उत्पाद शुल्क से प्राप्ति को अभ्यर्पित नहीं किया जा सकता क्योंकि अब इनसे प्राप्तिया केन्द्र सरकार की कर राजस्व में सम्मिलित होगी और अब ये राज्यों के साथ आवटनीय होगी। इस बात को ध्यान में रखते हुये आयोग ने इसकी सस्तुति की है कि आवटनीय सघीय करों तथा शुल्कों का 1 5 प्रतिशत अलग रूप से राज्यों को आवटित कर दिया जाय, इस प्रकार इसे लेकर अब सम्पूर्ण करों तथा शुल्कों का 29 5 प्रतिशत (28 प्रतिशत + 1 5 प्रतिशत) राज्यों के बीच आवटित कर दिया जाय। लेकिन आयोग ने यह भी सस्तुति की कि यदि कोई राज्य

चीनी, टेक्सटाइल्स तथा तम्बाकू पर बिक्री कर लगाता है तथा उसकी वसूली करता है तो उसे 1 5 प्रतिशत में हिस्सा नहीं प्राप्त होगा।

पूर्ववर्ती आयोगों से हटकर 11वें वित्त आयोग ने यह सुझाव दिया कि केन्द्र से राज्यों को राजस्व अन्तरण का स्तर निर्धारित करते समय सभी अन्तरणों पर समग्र रूप से विचार किया जाय तथा उनके घटक यथा कर अन्तरण, सहायता अनुदान तथा योजना अनुदान जैसे अन्य रूपों में अनुदान के स्तर का निर्धारण करने के लिये आयोग ने सुझाव दिया है कि केन्द्रीय करों/शुल्कों, सहायता अनुदानों और योजना अनुदानों के अन्तरण की कुल राशि की साकेतिक सीमा केन्द्र की सकल राजस्व प्राप्ति के 37 5 प्रतिशत पर निर्धारित होनी चाहिए।

सरकारी ऋण प्रक्रिया में सुधार

सरकार ने अपनी ऋण लेने की प्रक्रिया में 1 अप्रैल 1997 से एडहॉक ट्रेजरी बिल्स प्रणाली को समाप्त करके उसके स्थान पर अर्थोपाय अग्रिम की व्यवस्था को लागू किया गया। इस नयी प्रणाली के अन्तर्गत सार्वजनिक व्ययों तथा सार्वजनिक प्राप्तियों के बीच अस्थायी कमी को दूर करने के लिये अर्थोपाय अग्रिम का सहारा लिया गया जिसे रिजर्व बैंक द्वारा उस वर्ष में सरकार की उधारी के निबल योगदान में सम्मिलित नहीं किया जायेगा। अर्थोपाय अग्रिम की कुल राशि तथा उसकी लागत को

रिजर्व बैंक तथा सरकार के पारस्परिक समझौते द्वारा तय होगा। इस सीमा से ऊपर की गयी निकासी को उस वर्ष में अधिविकर्ष माना जायेगा।

इस नयी प्रक्रिया के कारण घाटे की धारणा को नयी दिशा मिली है। परम्परागत बजट घाटा जो एडहॉक ट्रेजरी बिल्स तथा नकद शेषों में निबल परिवर्तनों के द्वारा जाना जाता था, अब अर्थहीन या बेकार हो गया है। अब सकल राजकोषीय घाटा ही बजट घाटे का प्रमुख मापक रह गया है। अर्थोपाय अग्रिम के परिणामस्वरूप सरकार की वित्तीय अनुशासनता में वृद्धि होगी जबकि रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति की स्वायत्तता बढेगी।

बजेटरी घाटा जहा पहले अपने से स्वत मौद्रीकृत हो जाता था, वही अब ऐसा नहीं होगा। चूकि अर्थापाय अग्रिम को रिजर्व बैंक द्वारा उस वर्ष में सरकार की उधारी के निबल योगदान में सम्मिलित नहीं किया जायेगा इसलिये अर्थोपाय अग्रिम की मात्रा चाहे जितनी हो, इससे राजकोषीय घाटा प्रभावित नहीं होगा।

वर्तमान भारतीय बजेटरी व्यवहार के अनुसार केन्द्र सरकार के सार्वजनिक ऋण के अन्तर्गत तीन प्रकार की देयतायें आती हैं -

(क) आन्तरिक ऋण

(ख) विदेशी ऋण

(ग) अन्य देयताये

आन्तरिक तथा विदेशी ऋण भारत के सार्वजनिक ऋण के अन्तर्गत आते हैं और इनका भुगतान भारतीय सचित कोष के अन्तर्गत सुरक्षित होता है। लेकिन अन्य देयतायें सार्वजनिक खाते में दिखायी जाती है और सचित कोष के अन्तर्गत सुरक्षित नहीं होती।

भारतीय सविधान के अनुच्छेद 292 के अन्तर्गत पार्लियामेन्ट सार्वजनिक ऋण की ऊपरी सीमा निर्धारित कर सकती है। इसी प्रकार की व्यवस्था 293 के अन्तर्गत राज्यों के ऋणों के सम्बन्ध में है जहा राज्य विधान सभा राज्यों के आन्तरिक ऋण पर ऊपरी सीमा निर्धारित कर सकती है।

केन्द्र सरकार के आन्तरिक ऋण के अन्तर्गत बाजार उधारी, रिजर्व बैंक द्वारा निर्गत विशिष्ट प्रतिभूतिया, क्षतिपूरक तथा अन्य बाण्ड, रिजर्व बैंक द्वारा राज्य सरकारों, व्यापारिक बैंको तथा अन्य सस्थाओं को निर्गत ट्रेजरी बिल्स तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सस्थाओं को निर्गत गैर परक्राम्य तथा ब्याज रहित रुपया प्रतिभूतिया आती हैं। इसी प्रकार राज्यों द्वारा लिये जाने वाले ऋणों के सम्बन्ध में दो शर्ते हैं एक तो यह कि राज्य केवल आन्तरिक ऋण ही ले सकते हैं औरदूसरा यह कि जब तक ऋणों के सम्बन्ध में राज्यों की

केन्द्र सरकार के प्रति देयता हो तब तक ऋण की उगाही के सम्बन्ध में केन्द्र सरकार से अनुमति लेना अनिवार्य होगा।

अन्य देयताओं के अन्तर्गत आन्तरिक तथा वाह्य ऋणों के अतिरिक्त सरकार की ब्याजयुक्त देयतायें आती हैं जैसे डाकघर बचत बैंक जमा खाता, प्राविडेन्ट फण्ड जमा, अल्प बचत जमा योजना, डाकघर प्रमाण पत्र के माध्यम से ऋण आदि। ये देयतायें ऐसी हैं जो सरकार को एक ऋणी के रूप में नहीं प्राप्त होती बल्कि सरकार के खाते में एक बैंक की भूमिका के रूप में प्राप्त होती है। ये देयतायें भारत के सचित निधि के अन्तर्गत सुरक्षित नहीं होती, बल्कि सार्वजनिक खाते के भाग के रूप में दिखायी जाती है।

राजकोषीय मजबूती और ऋणपुर्नसरचना

यह निर्विवाद है कि राजकोषीय मजबूती स्वपोषित आर्थिक विकास के लिये आवश्यक है। मुद्रास्फीति की अल्पदर, सुदृढ भुगतान सन्तुलन आदि आर्थिक स्थायित्व के परिचायक है। कर सुधारों के माध्यम से राजकोषीय मजबूती लाने की बात 2003-04 के बजट में की गयी। इसकी नीतिगत परिवर्तनों तथा सुझावों को निम्न भागों में देख सकते हैं :-

(क) नकदी प्रबन्ध

नकदी प्रबन्ध व्यय प्रबन्ध का ही एक रूप है, बल्कि समुचित नकद प्रबन्ध प्रभावी व्यय प्रबन्ध की एक अनिवार्य दशा है। वर्तमान व्यय प्रबन्ध में कोई प्रभावशाली नकदी प्रबन्ध नहीं है क्योंकि पार्लियामेन्ट द्वारा विनियोग विधेयक पास करते ही मत्रालयों के पास बजट द्वारा निर्धारित सीमा तक कि नकदी उपलब्ध हो जाती है। इसलिये वित्तमत्री ने परीक्षण के तौर पर अधिक व्यय करने वाले मत्रालयों में इसे लागू करने की बात की। इसके अन्तर्गत वर्ष भर के भीतर उपलब्ध ससाधनों के साथ तालमेल स्थापित करते हुये वर्ष के दौरान निर्धारित समय के लिये बजेटरी ससाधन आवटित किये जायेंगे मत्रालयों की वास्तविक आवश्यकता के आधार पर मासिक अथवा त्रैमासिक नकदी सीमायें निर्धारित की जायेगी। इससे प्राप्तियों और व्यय के बीच अक्सर होने वाली विषमता से बचा जा सकेगा तथा व्यय की अधिकता तथा अन्तिम तिमाही में सभावित ससाधनों के अपव्यय से बचा जा सकेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि नकदी प्रबन्ध, व्यय के क्रियान्वयन पक्ष में उत्पन्न होने वाले अपव्ययों को नियत्रित करने का व्यय प्रबन्ध एक तरीका है।

विदेशी ऋण की पूर्व अदायगी

केन्द्रीय स्तर पर 2002-03 के बजट में 115663 करोड रुपया ब्याज भुगतान अनुमानित है जो सरकार की राजस्व

प्राप्तियों के 48 8 प्रतिशत के बराबर है।[5] भारत सरकार के बकाया ऋण पर औसत ब्याज की दर 1999-2000 के 11 प्रतिशत से गिरकर 2001-02 में 9 4 प्रतिशत हो गयी लेकिन वित्तमत्री के अनुसार यह आवश्यक है कि ब्याज की औसत दर में और कमी लायी जाये इसलिये वित्तमत्री ने इस दशा में तीन कदमों का प्रस्ताव किया है -

1 सरकार ने समूची विदेशी मुद्रा निधि और न्यून घरेलू ब्याज दरों का लाभ उठाते हुये विश्व बैंक तथा एशियाई विकास बैंक के कुल लगभग 3 विलियन डालर की उच्च लागत के मुद्रा पूल ऋणों का समय से पहले भुगतान कर दिया है। वित्तमत्री के अनुसार सरकार का इरादा विदेशी देनदारियों के विवेकपूर्ण प्रबन्धन नीति को जारी रखना है तथा विदेशी ऋण पोर्टफोलयो के अपेक्षतया उच्च लागत के हिस्से को समाप्त करना है।

2 केन्द्र सरकार घरेलू ऋणों के उन हिस्सों को, स्वैच्छिक रूप से वापस खरीदने का प्रस्ताव करती है, जो व्यापारिक बैंकों के पास है जिन पर ब्याज की दर ऊँची है तथा जिनमें व्यवहार (ट्रेडिग) कम होते हैं तथा जिन्हें व्यापारिक बैंक अपनी निष्पादनकारी सम्पत्तियों की स्थिति को सुधारने की दृष्टि से हटाना चाहते हैं।

---

[5] **Economic Survey 2002-03**

राज्य सरकारों के ऋणों की पुर्नसरचना

सी0 रगराजन की अध्यक्षता में बारहवा वित्त आयोग भी राज्यों के ऋण की स्थिति का मूल्याकन करेगा और आवश्यक सुधारात्मक उपाय सुझायेगा। इस बीच केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों ने स्वैप (पारस्परिक रूप से ऋण अदला-बदली योजना) शुरू करने की सहमति दे दी है। राज्यों की तरफ से भारत सरकार के 244,000 करोड रुपये के कुल ऋण स्टाक में से 100,000 करोड रुपये से अधिक पर ब्याज की दर 13 प्रतिशत अधिक की कूपन दर है जो वर्तमान ब्याजदर से बहुत ऊँची है। वित्तमत्री के अनुसार, इसके कारण राज्यों के ब्याज का भार, उनके राजस्व का बहुत बडा हिस्सा बन जाता है।

स्वैप योजना राज्यों को उच्च ब्याज दर पर लिये गये ऋणों की समय से पूर्व अदायगी की क्षमता प्रदान करेगी। इनके स्थान पर राज्य चालू नये अल्प ब्याज दर कूपन वाले अल्पबचत तथा खुले बाजार के ऋण ला सकेंगे। उल्लेखनीय है कि अट्ठाइस राज्यों में से छब्बीस राज्यों ने इस योजना को स्वीकार कर लिया है, शेष दो राज्य 2003-04 में इसमें शामिल होंगे। वित्तमत्री के अनुसार 2004-05 में समाप्त हो रही तीन वर्ष की अवधि में राज्यों द्वारा भारत सरकार से लिये गये 13 प्रतिशत से अधिक की कूपन दर

वाले सभी ऋणों की अदला-बदली हो जायेगी। इस क्रिया के कारण राज्यों को अनुमानत 81,000 करोड रुपये की बचत हो सकेगी।

केन्द्रीय सार्वजनिक उद्यमो की बजट पर आश्रिता में कमी

1991 के पूर्व सार्वजनिक उद्यमों की वित्तीय व्यवस्था के बजट के द्वारा की जाती थी, परिणाम स्वरूप इन उद्यमों की विनियोजन आवश्यकता तथा साथ ही 'हानि' दोनो की ही व्यवस्था बजट से की जाती थी। राजकोषीय घाटे में कमी तथा इनकी कुशलता तथा प्रतियोगितात्मकता बढाने के लिये 1991 में 'आर्थिक सुधारों' के अन्तर्गत यह निर्णय लिया गया कि सार्वजनिक उद्यमों की विनियोजन आवश्यकता की पूर्ति या तो इन उद्यमों द्वारा अपने आन्तरिक साधनों द्वारा होगी या इसकी आपूर्ति इनके द्वारा पूँजी बाजार से प्राप्त पूँजी के द्वारा होगी। हानिपर काम करने वाली सार्वजनिक इकाइयों के सम्बन्ध में यह निर्णय लिया गया कि हानि को पूरा करने की वित्तीय व्यवस्था तीन वर्षो तक रहेगी। ऐसी स्थिति में या तो हानि पर काम करने वाली इकाईयाँ आर्थिक दृष्टि से ठीक हो जायेगी या तो बन्द हो जायेगी, जिसका निर्णय बोर्ड फार इन्डस्ट्रियल एण्ड फाइनेन्सियल रिकान्सट्रक्सन (बी आई एफ आर) द्वारा होगा। इसके परिणाम स्वरूप सार्वजनिक उद्योगो के योजना व्यय की बजेटरी सहायता में लगातार कमी आयी है।

विनिवेश निजीकरण की प्रक्रिया

भारत में राजकोषीय सुधारों का सबसे महत्वपूर्ण कदम कुछ चुनींदा सार्वजनिक उद्यमों में सरकारी शेयरों का विनिवेश है। विनिवेश का मुख्य लक्ष्य बजट के लिये गैर स्फीतिकारी वित्तीय साधन जुटाना है-अन्य सभी लक्ष्य इस लक्ष्य की तुलना में गौण है।

भारत में 1991 में आर्थिक सुधारो की जो प्रक्रिया शुरू हुयी, निजीकरण उसकी अत्यन्त ही महत्वपूर्ण कडी है। निजीकरण से आशय उस प्रक्रिया से है जो किसी राष्ट्र की आर्थिक क्रियाओं में राज्य या सार्वजनिक क्षेत्र की भागीदारी में कमी लाये। भारत जैसी मिश्रित अर्थव्यवस्था में निजीकरण के अन्तर्गत निम्नलिखित बातें सम्मिलित होती हैं -

1 अराष्ट्रीयकरण अर्थात् उत्पादक सम्पत्तियों के राज्य स्वामित्व को निजी स्वामित्व या क्षेत्र को हस्तान्तरित करना।

2 सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सर्वथा आरक्षित क्षेत्र में निजी क्षेत्र के प्रवेश की अनुमति देना।

3 सार्वजनिक उद्यमों तथा सरकारी विभागों द्वारा प्रबन्धित क्रियाओं जैसे रेलवे, टेलीफोन, पोस्ट एण्ड टेलीग्राफ आदि के प्रबन्ध तथा नियत्रण को निजी क्षेत्र को हस्तातरित करना।

ऐसी उम्मीद की जाती है कि निजीकरण के फलस्वरूप-(क) सार्वजनिक उद्यमों की कुशलता तथा निष्पादन में सुधार होगा क्योंकि निजीकरण के साथ लाभ प्रेरित निर्णय की प्रक्रिया शुरू होगी। (ख) सरकारी हस्तक्षेप में कमी के कारण निर्णय लेने में स्वतत्रता तथा गति बढेगी तथा (ग) प्रतिस्पर्धा के साथ निजी क्षेत्र सम्बन्धी सस्कृति प्रवर्तित होगी। इस प्रकार निजीकरण के कारण आर्थिक तथा तकनीकी कुशलता में वृद्धि होगी।

यह स्वीकार करते हुये कि बिना निजीकरण के उदारीकरण तथा बाजारीकरण की प्रक्रिया गति ही नहीं पकडेगी भारत में आर्थिक सुधारों के साथ 1991-92 से ही निजीकरण की प्रक्रिया शुरू हुयी। भारत में इस दिशा में जो कदम उठाये गये वे थे-(अ) निजी कम्पनी क्षेत्र को, कोर सेक्टर जैसे स्टील, पोर्ट्स, टेलीकम्यूनिकेशन, आदि में प्रवेश की अनुमति, (ब) सार्वजनिक उद्यमों को बजेटरी वित्तीय सहायता पर रोक जिसके परिणाम स्वरूप एक ओर देश में नये सार्वजनिक उद्यमों के खोलने पर प्रतिबन्ध तथा दूसरे विस्तार तथा नये प्रोजेक्ट के लिए सार्वजनिक उद्यमों को सरकार की इक्विटी धारिता में कमी लाने के लिए बाजार से पूजी की उगाही, (ग) चुने हुए सार्वजनिक उद्यमों की पूर्णतया बिक्री तथा (घ) चुने हुए सार्वजनिक उद्यमों द्वारा जनता के लिए इक्टिवी का निर्गमन।

विनिवेश निजीकरण का एक तरीका है जिसके अन्तर्गत सार्वजनिक उद्यम की इक्विटी बाजार में बेची जाती है या सरकार की इक्विटी धारिता में कमी लायी जाती है। विनिवेश का पहली बार प्रयोग 1991-92 की अन्तरिम केन्द्रीय बजट में किया गया। 19 दिसम्बर 2002 को ससद में रखे गये विवरण में सरकार ने यह स्पष्ट किया कि विनिवेश का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय ससाधनों एव परिसम्पत्तियों का इष्टतम उपयोग करना है तथा सरकारी क्षेत्रों में छिपी 'सम्भाव्य उत्पादन क्षमता' को प्रयोग के लिए मुक्त करना है विनिवेश नीति के प्रमुख उद्देश्य निम्नाकित हैं -

1 सरकारी क्षेत्र के उद्यमों का आधुनिकीकरण तथा उन्नयन

2 नयी परिसम्पत्तियों का सृजन

3 रोजगार सृजन

4 पुराने सरकारी ऋण को समाप्त करना

5 राजकोषीय घाटा में कमी लाने की दिशा में प्रयास

भारत में विनिवेश के निम्नाकित रूप अपनाये गये

(क) पब्लिक आफर- इसके अन्तर्गत निजी कम्पनियों की तरह सार्वजनिक कम्पनिया या उद्यम अपने इक्विटी शेयर घरेलू सार्वजनिक निर्गमन के द्वारा जनता द्वारा क्रय के लिए बाजार में रखती है। स्पष्ट है इस प्रकार के निर्गमन के द्वारा सार्वजनिक उद्यम में जनता की भागीदारी बढती है तथा साथ ही

सार्वजनिक उद्यमों को पूजी मिल जाती है। पब्लिक आफर का प्रयोग भारत के शुरू में 90 के दशक में किया गया। थैचर ने इग्लैण्ड में निजीकरण के लिए 'पब्लिक आफर' का बहुत अधिक सहारा लिया। भारत में अच्छे सार्वजनिक उद्यमों के सम्बन्ध में विदेशी बाजारों से पूजी इकट्ठा करने के लिए जी0डी0आर0 का भी सहारा लिया गया।

(ख)क्रास होल्डिग- इस स्थिति में एक सार्वजनिक उद्यम का शेयर अन्य सार्वजनिक उद्यमों को ही बेचा जाता है।

(ग)वेयर हाउसिग विधि के अन्तर्गत सरकारी स्वामित्व वाली वित्तीय सस्थायें अशो को तब तक धारित करती हैं जब तक कोई तीसरा क्रेता नहीं मिल जाता।

(घ)गोल्डेन शेयर विधि-वास्तव में सार्वजनिक उद्यमों में सरकार के हित को सरक्षित करने का एक तरीका है, इसके अन्तर्गत सरकार 26 प्रतिशत शेयर धारित करती है पर इसके बावजूद भी सरकार मेजारटी स्टेटस या 'बहुमत का अधिकार' अपने पास रखती है। इसके अन्तर्गत सरकार के पास चाहे जो भी अश हो प्रबन्धकीय अधिकार उसी के पास बना रहेगा।

(ड)स्ट्रेटेजिक सेल के अन्तर्गत सरकार किसी सार्वजनिक उद्यम के अधिकाश शेयर किसी एक स्ट्रैटेजिक या चुने क्रेता को बेच देती है तथा साथ ही उस सार्वजनिक उद्यम का

'प्रबन्ध' भी उस क्रेता को हस्तातरित कर देती है। इधर हाल के वर्षों में इस विधि का प्रयोग अधिक किया जा रहा है।

भारत में विनिवेश की वर्तमान स्थिति

भारत में विनिवेश की दिशा में जो कदम उठाये गये वे रगराजन समिति (1993) की सस्तुतियों के सन्दर्भ में थे, जिसने यह सस्तुति[6] की थी कि सरकार को स्ट्रेटेजिक महत्व के क्षेत्रों में जेसे रक्षा तथा आणुविक शक्ति में लगे हुए सरकारी उद्यमों में बहुमत इक्विटी नियत्रण अपने पास रखना चाहिए, अन्य सरकारी उद्यमों में सरकार किसी सीमा तक विनिवेश कर सकती है। इसी दिशा में एक कदम, आगे बढाते हुये सार्वजनिक उपक्रमों के शेयरों को उचित मूल्य के निर्धारण तथा अन्य सुझावों के लिये 1996 में जी0वी0 रामकृष्ण की अध्यक्षता में विनिवेश आयोग भी बनाया गया। विनिवेश आयोग का कार्यकाल समाप्त होने के साथ ही विनिवेश आयोग समाप्त कर दिया गया है अब विनिवेश की क्रिया का निर्देशन तथा नियमन विनिवेश विभाग द्वारा किया जा रहा है। उल्लेखनीय है कि विनिवेश आयोग ने 1999 के दौरान अपनी नवीं रिपोर्ट 19 मार्च, 1999 दसवीं रिपोर्ट 8 जून, 1999 तथा ग्यारहवीं रिपोर्ट 19 जुलाई और 12 वीं रिपोर्ट 1999 को सरकार को सौंपी। वर्ष 1999-2000 के बजट में वित्तमत्री ने यह कहा कि सरकार कोर

---

[6] **C Rangrajan, Fiscal Deficit B O P and Current Account Deficit Edited Uma Kapila, 2000**

कम्पनियों के अतिरिक्त अन्य कम्पनियों में 26 प्रतिशत तक विनिवेश करेगी, चालू वर्ष के बजट में वित्तमंत्री ने यह घोषणा की कि सरकार विनिवेश को 26 प्रतिशत से भी कम करेगी यहा तक कि कुछ कम्पनियों के सम्बन्ध में उसका स्वामित्व शून्य प्रतिशत या विनिवेश 100 प्रतिशत हो जायेगा। 2000-01 बजट में विनिवेश के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण व्यवस्था यह की गयी है कि सरकार अब विनिवेश प्राप्ति का प्रयोग सार्वजनिक उद्यमों के पुनर्गठन, सामाजिक क्षेत्र की आवश्यकता की पूर्ति तथा सार्वजनिक ऋणों की अतिम अदायगी में करेगी।

9 दिसम्बर 2002 को सरकार ने निजीकरण नीति के वर्तमान उद्देश्य को दिशा निर्देश के विवरण में दिया। इस विवरण में विनिवेश नीति के उद्देश्यों की चर्चा के अतिरिक्त निम्नाकित महत्वपूर्ण प्रस्ताव किये गये हैं -

1 ऐसी कम्पनियों में जिनमें सरकार की धारिता शेष रह गयी है, बाकी किसी निजी कम्पनी को बेच दी गयी है, उसके प्रबन्ध और निपटान के लिए परिसम्पत्ति प्रबन्ध कम्पनी की स्थापना पर विचार करना।

2 भारत पेट्रोलियम कारपोरेशन (बीपीसीएल) में पब्लिक को शेयरों की बिक्री के जरिए विनिवेश करना।

सारणी सख्या- 43

(करोड रुपया)

वर्ष	लक्ष्य	उपलब्धि
1991-92	2500	3038
1992-93	2500	1913
1993-94	3500	-
1994-95	4000	4843
1995-96	7000	362
1996-97	5000	902
1997-98	4800	5371
1998-99	5000	1829
1999-2000	10000	1869
2000-2001	10000	5632
2001-2002	12000	3646
2002-2003	12000	3360
2003-2004	13200	-

3 स्ट्रेटिजिक बिक्री के द्वारा हिन्दुस्तान पेट्रोलियम कारपोरेशन लि0 (एचपीसीएल) में विनिवेश करना।

4 दोनों मामलों में रियायती अश पर दोनों कम्पनियों के कर्मचारियों को एक विशिष्ट प्रतिशत आवटित करना।

विभिन्न बजटों में विनिवेश की स्थिति को सारणी सख्या 4 1 में प्रदर्शित किया गया है।

राजकोषीय सुदृढीकरण

सार्वजनिक व्यय बजट का बहुत ही महत्वपूर्ण पहलू होता है क्योंकि यह राजस्व घाटा एव राजकोषीय घाटा के आकार के निर्धारण तथा सरकारी नीतियों के स्वभाव पर प्रकाश डालने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। सार्वजनिक व्यय का ढाचा तथा स्वभाव राजकोषीय घाटे के गुणात्मक पहलू पर प्रकाश डालता है। उल्लेखनीय है कि राजकोषीय घाटे का गुणात्मक पहलू परिमाणात्मक पहलू से अधिक महत्वपूर्ण है। सार्वजनिक व्यय का ढाचा यह बताता है कि राजकोषीय घाटे में जो वृद्धि हो रही है वह राजस्व व्ययों या पूजीगत व्ययों की वृद्धि के कारण हो रही है। राजकोषीय घाटे की गम्भीरता उस समय अधिक होती है जबकि घाटे की वृद्धि राजस्व घाटे के परिणामस्वरूप हो।

इसी सदर्भ में केन्द्र सरकार ने अनुत्पादक सार्वजनिक व्ययों में कटौती करने के लिये, जिससे कि राजस्व व्ययों

में सीधे तौर पर कमी लायी जा सके, के0पी0 गीतकष्णन की अध्यक्षता में एक व्यय आयोग का गठन किया। आयोग ने क्रमबद्ध रूप से सरकार के आकार में कमी लाने के सम्बन्ध में समाधान की सम्भावनाओं पर विचार, अनुदान के प्रारूप की समीक्षा तथा प्रायोगिक लागत के निर्धारण के सम्बन्ध में अपनी 10 रिपोर्टे सितम्बर 2001 में कार्यकाल पूरा होने के पश्चात् सरकार को दी है।

इस रिपोर्ट में आयोग ने 36 मन्त्रालयों जिनमें 8 65 लाख कर्मचारी हैं, उन पर विचार किया है। आयोग ने अपनी रिपोर्ट मे यह पाया है कि 42200 अधिक्य स्टाफ है जिसमें से मार्च 2002 तक 12,200 पद समाप्त कर दिये जायें।

उर्वरक सब्सिडी कम करने की दिशा में व्यय आयोग ने यह सुझाव दिया है कि सरकार को चाहिए कि उर्वरकों के मूल्य में 7 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि लायी जाये तथा धीरे-धीरे 5 वर्षों में नियत्रण हटा ले। उर्वरकों के मूल्य में पिछले 2 वर्षों में कोई वृद्धि नहीं हुयी है। 2002-2003 के बजट में डी0ए0पी0 तथा एम0ओ0पी0 के मूल्य में 5 प्रतिशत की बढोत्तरी तथा एस0एस0पी0 की सब्सिडी में पचास रूपया प्रतिटन कमी प्रस्तावित की है।

1 मार्च 2002 से चीनी पर अनिवार्य लेवी 15 प्रतिशत से घटाकर 10 प्रतिशत कर दी जायेगी, परिणामस्वरूप चीनी का पी0डी0एस0 मूल्य 1 मार्च 2002 से 13 50 रु0 प्रति किलोग्राम

हो गया। प्रशासनिक ब्याज दर के सम्बन्ध में बी0 रेड्डी कमेटी की सस्तुतियों को ध्यान में रखते हुये मार्च 1, 2002 से सभी प्रशासनिक ब्याज दर में 0 5 प्रतिशत की कमी लायी गयी है।

1 अप्रैल, 2002 से अल्पबचत स्कीम से प्राप्त सम्पूर्ण निबल वसूली को राज्य सरकारों को दे दिया जायेगा जो वर्तमान में 80 प्रतिशत होगा परिणामस्वरूप राज्य सरकारों को रियायती दर पर लगभग 10000 करोड रुपये की ऋण सहायता उपलब्ध हो जायेगी।

राजकोषीय घाटा तथा अल्पबचत वसूली

–

अल्पबचत योजनाओं के अन्तर्गत जो विभिन्न राज्यों में वसूली की जाती है उसमें से केन्द्र सरकार 80 प्रतिशत राज्य सरकार को दे देती है (पहले यह 75 प्रतिशत था) तथा 20 प्रतिशत केन्द्र सरकार के पास पडा रहता है। सम्पूर्ण वसूली की राशि को बजट में 'अन्य देयताओं' के रूप में प्रदर्शित किया जाता रहा है। अन्य देयताओं में प्रदर्शित होने के कारण इसकी मात्रा से राजकोषीय घाटा बढ जायेगा। 1998-99 में आर0बी0 गुप्ता कमेटी की सस्तुति पर 1999-2000 से अल्पबचत के सम्बन्ध में एक नयी योजना अपनायी गयी जिसके अनुसार अल्पबचतों को सार्वजनिक खाते में प्रदर्शित करने का निर्णय लिया गया। जिसके अनुसार सम्पूर्ण

वसूली सार्वजनिक खातें में प्रदर्शित होगी, उसी में से राज्य को 80 प्रतिशत के रूप में भुगतान होगा तथा शेष 20 प्रतिशत को केन्द्र सरकार की प्रतिभूतियों में विनियोजित माना जायेगा। इस स्थिति में जहा पहले अल्पबचत की वसूली का 100 प्रतिशत अन्य देयताओं में सम्मिलित होता था, नयी व्यवस्था में इसका केवल 20 प्रतिशत ही अन्य देयताओं के रूप में प्रदर्शित होगा। 2002-2003 बजट में व्यवस्था के अनुसार अन्य राज्यों का हिस्सा 80 प्रतिशत से बढाकर 100 प्रतिशत कर दिया गया। इस प्रकार अब अल्पबचत का कोई प्रभाव राजकोषीय घाटे पर नहीं होगा।

घाटे की वित्त व्यवस्था

चक्रवर्ती कमेटी की रिपोर्ट के पूर्व -चक्रवर्ती कमेटी की रिपोर्ट की सस्तुतियों को स्वीकार करने के पूर्व, 1950-51 से भारत में बजेटरी घाटा को ही घाटे को वित्त व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है।

बजेटरी घाटा = कुल प्राप्तिया - कुल व्यय = (कुल व्यय) - (कुल आय+सार्वजनिक ऋण तथा अन्य दायित्व)

सामान्यता केन्द्र सरकार अपने घाटे की आपूर्ति निम्नाकित स्रोतों से करती है-

क ऐडहॉक ट्रेजरी विल्स को 4 6 प्रतिशत स्थिर ब्याज दर पर रिजर्व बैंक के पास रखकर।

ख रिजर्व बैंक से नकदी निकासी

ग सार्वजकि ऋणों के लिये रिजर्व बैंक का निबल योगदान

घ बैंकिग प्रणाली से जिसे अपनी जमा का एक निश्चित प्रतिशत वैधानिक तरलता अनुपात के अन्तर्गत सरकारी प्रतिभूतियों में रखना पडता है।

ड निजी क्षेत्र से भविष्य निधि, अल्प बचत योजनाओं के माध्यम से

च विदेशी बचत से।

चूकि (घ) (ड) तथा (च) में सभी वर्णित स्रोत सार्वजनिक ऋण तथा अन्य दायित्व के अन्तर्गत आते हैं, इसलिये यह कहा जा सकता है कि बजेटरी घाटे की आपूर्ति के तीन ही स्रोत रहे-एडहॉक ट्रेजरी बिल्स, सार्वजनिक ऋणों के सम्बन्ध में आर0बी0आई0 का निबल योगदान तथा नकदी की निकासी। यहा एक बात विचारणीय है कि 180 तथा 364 दिनों की निर्गमित ट्रेजरी बिल्स, सार्वजनिक ऋण तथा अन्य दायित्वों के अन्तर्गत आयेंगे न कि (क) के अन्तर्गत। इनमें से सामान्यतया नकदी निकासी नगण्य होती है, इसलिये बजेटरी घाटा की आपूर्ति के दो ही तरीके हुये-एडहॉक ट्रेजरी बिल्स तथा आर0बी0आई0 का सार्वजनिक ऋण में योगदान।

इस स्थिति में घाटे की वित्त व्यवस्था की माप इस प्रकार होगी।

बजेटरी घाटा = घाटे की वित्त व्यवस्था = ऐडहॉक ट्रेजरी बिल्स में वृद्धि+रिजर्व बैंक की नकदी निकासी+रिजर्व बैंक का सार्वजनिक ऋण में निबल योगदान।

इस स्थिति में बजेटरी घाटा का स्वत तुरन्त मौद्रीकरण हो जायेगा इसलिये बजेटरी घाटा = मौद्रीकृत घाटा

चक्रवर्ती कमेटी[7] की रिपोर्ट के बाद घाटे की वित्त व्यवस्था

कमेटी ने यह सुझाव दिया कि घाटे की वित्त व्यवस्था केवल बजेटरी घाटे तक सीमित नहीं होनी चाहिए बल्कि इसमें सार्वजनिक ऋण तथा अन्य दायित्वों जो वास्तव में पूजी आय नहीं है, केवल पूजीगत प्राप्तिया हैं, को भी सम्मिलित होना चाहिए। चक्रवर्ती समिति की सस्तुतियों को स्वीकार कर लिया गया और इस प्रकार घाटे की वित्त व्यवस्था की नयी धारणा सामने आयी जिसके अनुसार–

घाटे की वित्त व्यवस्था = बजेटरी घाटा+सार्वजनिक ऋण तथा अन्य दायित्व

बजेटरी घाटा+सार्वजनकि ऋण तथा अन्य दायित्व = राजकोषीय घाटा।

---

[7] S Chakravary Committe Report

इस प्रकार अब नये रूप में घाटे की वित्त व्यवस्था, बजेटरी घाटा के बराबर न होकर राजकोषीय घाटे के बराबर होगी, इस प्रकार हम यह भी कह सकते है कि-

घाटे की वित्त व्यवस्था = ऐडहॉक ट्रेजरी बिल्स में वृद्धि (Δ TB)+ रिजर्व बैंके से नकदी निकासी+आर0बी0आई0 का सार्वजनिक ऋण में निबल योगदान + सार्वजनिक ऋण तथा अन्य दायित्व चाहे वह एस0एल0आर0 के कारण हो या बाजार उधारी के कारण हो या जनता से प्रावीडेण्ट फण्ड तथा अल्प बचत योजना के कारण = राजकोषीय का घाटा

1997 के बाद घाटे की वित्त व्यवस्था -

1997-98 में एडहॉक ट्रेजरी बिल्स को समाप्त करने के बाद अर्थोपाय अग्रिम की योजना लागू की गयी जो आर0बी0आई0 द्वारा उस वर्ष में किये गये सरकार के निबल योगदान में नहीं आयेगा, इसलिये अब-

घाटे की वित्त व्यवस्था = राजकोषीय घाटा =आर0बी0आई का सार्वजनिक ऋण में निबल योगदान+सार्वजनिक ऋण तथा अन्य दायित्व।

वर्ष 1999-2000 के बजट से अल्प बचत योजना से प्राप्त पूजीगत प्राप्ति को अन्य देयताओं से निकाल कर सार्वजनिक

खाते में डाल दिया गया। इस प्रकार अब राजकोषीय घाटा (घाटे की वित्त व्यवस्था) -

राजकोषीय घाटा = सार्वजनिक ऋण+अल्प बचत योजनाओं की वसूली को छोडकर अन्य देयताए+अल्प बचत योजनाओं की वसूली का वह भाग जो राज्य सरकारों को देने के बाद बचा (अर्थात् वर्तमान में शून्य प्रतिशत)।

यहा यह उल्लेखनीय है कि घाटे की वित्त व्यवस्था से कितनी मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होगी यह इस बात पर निर्भर करेगा कि इसका कितना भाग मौद्रीकृत हुआ है।

राजकोषीय उत्तरदायित्व तथा बजट प्रबधक विधेयक, 2000[8]

केन्द्र सरकार राजस्व घाटे को दूर करने तथा राजकोषीय घाटा को कम करने तथा पर्याप्त राजस्व अधिशेष सृजित करने के लिये उचित उपाय करेगी तथा विशेष रूप से निम्न उपाय करेगी -

क 1 अप्रैल, 2001 से प्रत्येक वित्तीय वर्ष के अत में अनुमानित सकल घरेलू उत्पाद के आधा प्रतिशत अथवा अधिक के समतुल्य राशि के द्वारा राजस्व घाटा कम करना।

---

[8] Economic Survey , Government of India 2001

ख 1 अप्रैल, 2001 के प्रारम्भिक वित्तीय वर्ष से प्रारम्भ तथा 31 मार्च, 2006 को समाप्त पाच वित्तीय वर्षों की अवधि में राजस्व घाटे को शून्य कर देना,

ग राजस्व की अधिशेष राशि का सृजन तथा ऐसी राशि जो आधिक्य परिसपत्तियों में देयताए चुकाने के लिये उपयोग करना।

घ 1 अप्रैल, 2001 से प्रारम्भ प्रत्येक वित्तीय वर्ष के अत में अनुमानित सकल घरेलू उत्पाद के आधा प्रतिशत अथवा उससे अधिक के समतुल्य राशि द्वारा राजकोषीय घाटा कम करना,

ड 1 अप्रैल, 2001 के प्रारम्भिक वित्तीय वर्ष से प्रारम्भ हो रही तथा 31 मार्च, 2006 को समाप्त हो रही पाच वित्तीय वर्षों की अवधि के भीतर एक वित्तीय वर्ष में उस वर्ष के लिये अनुमानित सकल घरेलू उत्पाद के दो प्रतिशत से अनधिक तथा राजकोषीय घाटा कम करना,

च किसी वित्तीय वर्ष में अनुमानित सकल घरेलू उत्पाद के आधे प्रतिशत से अधिक की किसी राशि के लिये गारटी न देना,

छ 1 अप्रैल, 2001 को प्रारम्भिक वित्तीय वर्ष से शुरू होने वाली, तथा 31 मार्च, 2011 को समाप्त होनेवाली दस वित्तीय वर्षो की अवधि के भीतर यह सुनिश्चित करना कि वित्तीय वर्ष की समाप्ति पर कुल देनदारिया (चालू विनिमय दर पर विदेशी ऋण समाहित),

उस वर्ष के लिये अनुमानित सकल घरेलू उत्पाद के पचास प्रतिशत

से अधिक न हो।

अध्याय-5

भारत में राजकोषीय सुधार, राजकोषीय घाटा तथा सार्वजनिक ऋण प्रबन्ध-समीक्षा

(Fiscal Reform, Fiscal deficit and Public dept management in India-Review)

भारत में राजकोषीय सुधारों की जो प्रक्रिया मुख्यतया 1991 में शुरू हुयी वह अस्सी के दशक से ही चली आ रही दोषपूर्ण समष्टि आर्थिक प्रबन्धन की चरम परिणति के रूप में उत्पन्न आर्थिक सकट की उपउत्पाद थी। 1991 के आर्थिक सकट का प्रतिविम्बन मुख्यतया ऊँची मुद्रा स्फीति की दर, जी0डी0पी0 के प्रतिशत के रूप में राजकोषीय घाटा तथा चालू खाते के घाटे के उच्च्व अनुपात तथा निराशाजनक रूप से गिरते हुए, बल्कि गिरे हुये विदेशी विनिमय कोष के रूप में हुआ (जैसा हम लोग इसके पूर्व प्रतिपादित कर चुके है)।[1] सभी लोग यह स्वीकार करते हैं कि यह आर्थिक सकट मुख्यतया एक राजकोषीय सकट था और यह सकट एक लम्बी अवधि के राजकोषीय कुप्रबन्ध का परिणाम था जो भयावह रूप से अत्यधिक मात्रा में राजकोषीय घाटा में परिलक्षित हुआ। अधिकाशतया यह भी स्वीकार किया जाता है कि बढता हुआ राजकोषीय घाटा आन्तरिक तथा बाह्य स्थिरता को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है । यह जहा एक ओर

---

1 हम लोग देख चुके है 1991 के आर्थिक सकट की स्थिति ।

समग्र माग में वृद्धि (राजकोषीय घाटा से उत्पन्न माग प्रभाव) तथा निजी क्षेत्र के विनियोग के क्राउडिग आउट के द्वारा (राजकोषीय घाटा के पूर्ति प्रभाव) अर्थव्यवस्था में आन्तरिक अस्थिरता या स्फीतिक दबाव को जन्म देता है, वहीं दूसरी ओर यह भी माना जाता है कि बढता हुआ राजकोषीय घाटा बाह्य अस्थिरता या असतुलन में फैल जाता है। ऐसा समग्र माग में वृद्धि या माग प्रभाव तथा आयात एव निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के सापेक्षिक मूल्य में परिवर्तन या मूल्य प्रभाव के कारण होगा। इस प्रकार लोगों ने राजकोषीय सकट के मूल में राजकोषीय घाटे को पाया और इसीलिए समष्टि आर्थिक अस्थिरता की समस्या के समाधान के सम्बन्ध में सबसे अधिक बल राजकोषीय घाटा में पोषणीय स्तर तक कमी लाने पर दिया गया ।

हम पहले देख चुके है कि राजकोषीय घाटा की धारणा एक व्यापक धारणा है तथा जिसे समग्र प्रप्तियों (जिनमे दायित्व उत्पन्न करने वाली प्राप्तिया सम्मिलित नहीं हैं) के ऊपर समग्रव्ययों (पूजीगत तथा राजस्वगत) के आधिक्य के रूप में प्रदर्शित किया जाता है[2] तथा जिसे स्फीति की दर में कमी, चालू खाते के

---

2 राजकोषीय दायित्व तथा बजट प्रबन्धन विधेयक (2000) राजकोषीय घाटा को समेकित फण्ड से होने वाले सभी व्ययों के ऊपर समेकित फण्ड में आने वाली सम्पूर्ण प्राप्तियों (जिसमें देयता सृजक प्राप्तिया नहीं आती है।) की कमी के रूप में परिभाषित किया है।

घाटे को पोषणीय दर पर प्राप्त करने तथा विदेशी तथा आन्तरिक ऋण की मात्रा में कमी लाने के अस्त्र के रूप में देखा गया[3] तथा डानबुश (1990) ने राजकोषीय घाटे के महत्व को बढाते हुये इसे आर्थिक सवृद्धि सृजक का अस्त्र माना है। भारतीय अर्थव्यवस्था में 1991 के राजकोषीय सकट से तत्काल रूप से राहत दिलाने के औजार के रूपमें राजकोषीय घाटा तत्कालीन वित्त मत्री डा0 मनमोहन सिह ने स्वीकार किया। वित्त मत्री ने 1991 में जो समष्टि स्थिरीकरण तथा सुदृढीकरण कार्यक्रम चालू किया उसमें राजकोषीय घाटे को केन्द्र स्थान प्रदान किया। आर्थिक सुधारो की प्रक्रिया में स्थिरीकरण के साथ सरचनात्मक समायोजन पर भी विशेष बल दिया गया।

राजकोषीय घाटा जो सरकार के आन्तरिक तथा वाह्य दायित्व में परिवर्तन प्रदर्शित करता है तथा साथ ही साथ सरकार की राजस्व प्राप्तियों, ऐसी पूजीगत प्राप्तियाँ जो दायित्व सृजित नहीं करती है जैसे विनिवेश आय तथा राजस्व व्यय जिसमें राज्यों को किये गये हस्तान्तरण भुगतान तथा अनुदान सम्मिलित है, से सम्बन्धित होता है। इसलिए इस दिशा में राजकोषीय सुधारों की जो प्रक्रिया शुरू हुयी वह मुख्यतया कर सुधार तथा राजस्व प्रबन्ध, व्यय सुधार

---

3 **Balakrishnan Pulapre – Fiscal deficit in Macroeconomic Perspective–P 9**

तथा व्यय प्रबन्ध, विनिवेश तथा ऋण प्रबन्ध से सम्बन्धित थी। राजकोषीय घाटे को कम करने के सम्बन्ध में सरकार ने जो कदम उठाये वह कर तथा व्यय सुधार से शुरू होकर राजकोषीय उत्तरदायित्व तथा बजट प्रबन्धन (2000) (जो सरकारी बजटरी व्यवहारों को नियत्रित करने से सम्बन्धित है जिससे राजकोषीय घाटा, राजस्व घाटा तथा सार्वजनिक ऋण की मात्रा आदि को पोषणीय स्तर तक रखा जा सके,) तक पहुँच गया है, जिसकी चर्चा पिछले अध्याय में की गयी है। यहा हम इस अध्याय में राजकोषीय सुधारों के परवर्ती वर्षो में प्राप्त परिणामों का सम्यकरूप से समीक्षा निम्नाकित प्रमुख शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे।

पिछली दशाब्दि में प्रमुख राजकोषीय विकास

अन्तर्राष्टीय मुद्रा कोष द्वारा समर्थित समायोजन तथा सुधार कार्यक्रमों के तहत 90 के दशक के प्रारम्भ में राजकोषीय दृढीकरण की प्रक्रिया शुरू की गयी। समायोजन कार्यक्रमों के अन्तर्गत मौद्रिक (दृढता), राजकोषीय सुदृढीकरण, रूपये का अत्यधिक अवमूल्यन तथा सरचनात्मक सुधार जिसमें व्यापार उदारीकरण, कर सुधार एव वित्तीय क्षेत्र-सुधार आता है। केन्द्र तथा राज्य सरकार का समग्र घाटा जो 1990-91 में जी0डी0पी0 के 9 6 प्रतिशत की उच्चतम सीमा पर था वह घटकर 1995-96 में जी0डी0पी0 के 6 7 प्रतिशत पर लौट गया।

इसी अवधि में सरकार का समग्र राजस्व घाटा जी0डी0पी0 के 4 प्रतिशत से घटकर वर्ष 1995-96 में 3 25 प्रतिशत तथा प्राथमिक घाटा जी0डी0पी0 के 5 प्रतिशत से घटकर 1 5 प्रतिशत हो गया। राजकोषीय सुदृढीकरण की यह प्रक्रिया मुख्यरूप से केन्द्र सरकार द्वारा सार्वजनिक व्ययों (जी0डी0पी0 के सापेक्ष) जैसे प्रतिरक्षा, सब्सिडीज तथा पूजीगत व्ययों की कटौती पर आधारित थी। केन्द्र सरकार के साथ ही राज्यों ने भी अपने व्ययो में कमी की नीति अपनायी। इस प्रकार 1990-91 से 1995-96 के दौरान राजकोषीय सुदृढीकरण का परिणाम पर्याप्त रूप से सतोषजनक रहा । पर राजकोषीय सुधार का यह गुलाबी दौरा बहुत अल्पकालिक रहा और 2001-02 तक घाटे के विभिन्न मापकों ने राजकोषीय सकट के स्तर को पुन प्राप्त कर लिए। सार्वजनिक व्यय में वृद्धि हुयी पर इस वृद्धि को समाप्त करने से सम्बन्धित राजस्व प्राप्तियों में कोई वृद्धि नहीं हुयी, इसके परिणामस्वरूप सरकार के समग्र घाटे 1995-96 के जी0डी0पी0 के 4 3 प्रतिशत को पार करके 2001-02 में जी0डी0पी0 का 6 प्रतिशत हो गया । राज्यों के भी सभी प्रकार के घाटे में यही प्रवृत्ति देखी गयी जो 1998-99 में बहुत तेजी से बढी। 2001-02 तक सरकार (केन्द्र तथा राज्य) का समग्र घाटा जी0डी0पी0 के 10 प्रतिशत से ऊपर था, मूल घाटा जी0डी0पी0 का 5 प्रतिशत तथा राजस्व घाटा जी0डी0पी0 का 6 प्रतिशत हो गया ।

नब्बे के दशक के अन्तिम चरण में जो राजकोषीय गिरावट की स्थिति दृष्टिगोचर हुयी वह निम्नांकित बातों से सम्बन्धित थी।

(क)मजदूरी बिल **(Wage Bill)** में अत्यधिक वृद्धि - पाचवाँ वेतन आयोग, जिसने अपनी रिपोर्ट जनवरी 1997 में सौपी, कर्मचारियों के मूल वेतन में तिगुनी वृद्धि तथा साथ ही सभी सरकारी विभागों तथा एजेन्सियों के स्टाफ में 30 प्रतिशत की कटौती की सस्तुति की। पर सरकार ने वेतन आयोग की सस्तुति स्वीकार करके मजदूरी तथा वेतन में तिगुनी वृद्धि तो दी किन्तु स्टाफ में कटौती नहीं की जिसका परिणाम यह हुआ कि मजदूरी तथा वेतन जो 1996-97 में जी0डी0पी0 का 1 4 प्रतिशत था बाद के वर्षो में बढकर 1 7 प्रतिशत हो गया । वेतन सम्बन्धी पुनरीक्षा के परिणाम स्वरूप राज्यों के वित्तीय स्थिति में अत्यधिक गिरावट आयी।

(ख) सरचनात्मक सुधार से सम्बन्धित सक्रमण लागतें- नब्बे के दशक के शुरू तक सरकारी घाटे के एक बडे भाग की वित्तीय व्यवस्था उच्च निधि जमा तथा साविधिक तरलता अनुपात के द्वारा होती थी। जिसके अन्तर्गत बैकों को बाध्य किया जाता था कि वे सरकारी प्रतिभूतियो या बाण्ड को प्रशासनित व्याज दर पर, जो व्याज दर से बहुत कम था, रखें। उल्लेखनीय है कि उस समय

एस0एल0आर0 की दर 38 5 प्रतिशत थी जबकि आवश्यक न्यूनतम दर 25 प्रतिशत ही थी। इस प्रकार की प्रणाली ने सरकार को बहुत अधिक मात्रा में 'घाटा' को लम्बी अवधि तक रखने की सुविधा प्रदान की लेकिन इसके परिणाम स्वरूप बैकिग सेवा की लाभदेयता में कमी आयी जिसके कारण बैंकिग प्रणाली कमजोर हुई। नब्बे के दशक में वित्तीय क्षेत्र में जो सुधार हुए, विशेषरूप से नरसिहम् समिति प्रथम की सस्तुतियों के अनुसार जो कदम उठे उसके परिणामस्वरूप साविधिक तरलता अनुपात 38 5 प्रतिशत से घटकर 25 प्रतिशत हो गया तथा सरकारी प्रतिभूतियों पर ब्याज, बाजार व्याजदर के अधिक नजदीक हुयी। फलत सरकार के ब्याज बिल में तेजी से वृद्धि हुयी और यह 2000-01 में जी0डी0पी0 का 4 75 प्रतिशत हो गया।

(ग)**कर सुधारों के बावजूद भी राजस्व जीडीपी अनुपात का** जो 1990 में था, उसी स्तर पर स्थिर बना रहना। राजकोषीय सकट की परवर्ती अवधि में जो कर सुधार किए गये वे मुख्यतया टैक्स रिफार्म समिति (चेलैया कमेटी) की सस्तुतियों पर आधारित थे। कर सुधारों का प्रमुख उद्देश्य कर राजस्व की उत्पल्वता (Buoyancy of Tax Revenue) को बढाने तथा कुल राजस्व में प्रत्यक्षकरों के हिस्से में वृद्धि लाना था। कर सुधारों के परिणामस्वरूप कर राजस्व में प्रत्यक्षकरों के हिस्से में वृद्धि अवश्य हुयी पर पिछली

एक दशाब्दि में जी0डी0पी0 के प्रतिशत के रूप में सकल कर राजस्व में 1 प्रनिशत की कमी आयी। जी0डी0पी0 के प्रतिशत के रूप में विभिन्न करों की स्थिति सारिणी सख्या 5 1 में प्रदर्शित है।

सारणी सख्या - 5 1

भारत केन्द्र सरकार का कर राजस्व (जी0डी0पी0 के प्रतिशत रूप में)										
	90-91	91-92	92-93	93-94	94-95	95-96	96-97	97-98	98-99	99-00
सकल कर आय	101	103	100	88	91	94	94	91	83	89
निगम कर	09	12	12	12	14	14	14	13	14	16
आयकर	09	10	11	11	12	13	13	11	12	13
उत्पादकर	43	43	41	37	37	34	33	32	31	32
सीमाशुल्क	36	34	32	26	26	30	31	26	23	25
अन्यकर	03	04	04	03	02	03	03	03	03	03
स्वैच्दिक आयघोषणा योजना (वी0डी0आई0एस0)		-	---	--	-	--	---	07	--	
राज्यों का हिस्से	26	26	27	26	25	25	26	29	22	23
निबल कर आय	76	77	72	62	67	69	68	63	60	66

स्रोत - भारत सरकार आर्थिक सर्वेक्षण, 2001

(घ) जी0डी0पी0 के प्रतिशत के रूप में राजस्व में जो कमी आयी उसके लिए भारतीय अर्थव्यवस्था की सरचना में होने वाले परिवर्तन अधिक उत्तरदायी· भारत में कर राजस्व का प्रमुख स्रोत औद्योगिक क्षेत्र है, कर सुधारों के परिणामस्वरूप कुल राजस्व में सीमाशुल्क के हिस्से में कमी के कारण आयकर, निगमकर तथा उत्पाद शुल्क के सापेक्षिक महत्व में वृद्धि आयी है। विगत वर्षों में जो विकास हुआ है, उसमें औद्योगिक क्षेत्र का हिस्सा लगभग स्थिर रहा है, सेवा क्षेत्र के हिस्से में वृद्धि हुयी है जबकि कृषि क्षेत्र के हिस्से में कमी आयी है, जैसा आगे आरेख आरेख सख्या 5 1 में प्रदर्शित है। चूकि औद्योगिक क्षेत्र का हिस्सा स्थिर रहा इसलिए कर सुधार के बाद इससे प्राप्त होने वाले राजस्व में

आरेख संख्या- 5 1

भारत क्षेत्रवार हिस्सा- 1950/51-2000/1
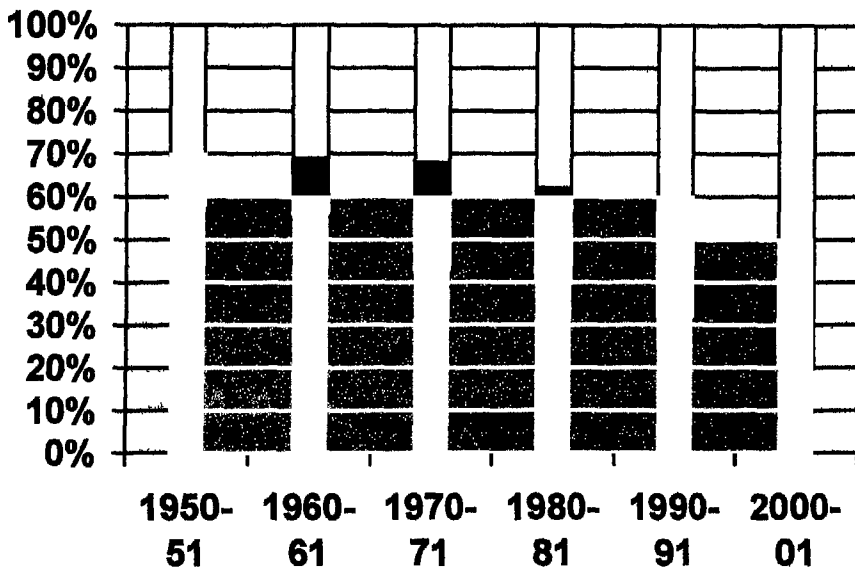
▪ Agriculture ▪ Industry ▫ Services

कमी आयी अथवा वह स्थिर बनी रही। कषि क्षेत्र जो अधिकाशतया अकरारोपित या नगण्यरूप से करारोपित रहा, इसलिए जी0डी0पी0 के प्रतिशत रूप में इस से मिलने वाले राजस्व में कमी आयी है। सेवा क्षेत्र में तेजी से वृद्धि हुयी है लेकिन कुल राजस्व में सेवा क्षेत्र से मिलने वाले राजस्व का हिस्सा अत्यन्त ही कम है क्योंकि यह क्षेत्र बहुत अधिक असगठित है, कम सेवायें ही अभी तक कर क्षेत्र में आ सकी हैं, और इन पर कर की दर भी अत्यन्त ही कम है। कर सुधार के दौरान सीमा शुल्क "राजस्व तटस्थ" नहीं हो सका है, बल्कि इससे मिलने वाले राजस्व में कमी आयी है कुछ सीमा तक यह कमी बढते हुए कर दाताओं की सख्या से पूरी हो सकी है।

(ड॰)भारतीय राजकोषीय स्थिति की एक अन्य विशेषता यह रही है कि राजस्व प्राप्ति सम्बन्धी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुयी है जबकि व्यय, विशेषरूप से पूजीगत व्यय को राजस्व की कमी की क्षतिपूर्ति के रूप मे कम किया गया है। ऐसा देखा गया है कि मजदूरी तथा वेतन, व्याज अदायगी तथा सब्सिडीज पर होने वाले व्यय बेलोच स्वभाव के होते है। इसलिए घाटे की पूर्ति हेतु राजस्व में होने वाली क्षति को पूरा करने के लिए, सार्वजनिक व्यय की कटौती का प्रयास राजस्व व्ययो में कटौती न करके पूजीगत व्ययो या

सरकारी निवेश में कटौती करता है जो अर्थव्यवस्था के भावी उत्पादन क्षमता को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है।

इसके परिणामस्वरूप पूजीगत व्यय जो वर्ष 1997-98 में जी0डी0पी0 का 4 प्रतिशत था, 2000-01 में घटकर जी0डी0पी0 का केवल 1 75 प्रतिशत रह गया।

(च)सामान्यतया यह माना जाता है और जैसा हम लोग इसके पूर्व प्रतिपादित कर चुके हैं कि राजकोषीय घाटा स्फीति तथा वाह्य असन्तुलन में फैल जाता है । किन्तु भारत में ऐसा नहीं पाया गया है, इसका सबसे प्रमुख कारण निजी बचत तथा निवेश के अन्तराल में वृद्धि है।[4] निजी बचत में (जी0डी0पी0 के अनुपात के रूप में) 90 के दशक में वृद्धि हुयी जो 20 प्रतिशत (1991-92) से बढकर 2000-01 में 25 प्रतिशत हो गयी। इसी अवधि में निजी विनियोग स्थिर रहा, शुरू में जब अर्थव्यवस्था में थोडा सुधार आया तो विनियोग में वृद्धि हुयी लेकिन उसके बाद 1998-99 से इसमें गिरावट आयी है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि निजी बचत में जो वृद्धि हुयी, वह इस अवधि में राजकोषीय घाटा के वित्तीयन में प्रयुक्त की गयी जिसके परिणाम स्वरूप निजी विनियोग का क्राउडिग

---

4 **Acharya Shankar, Macro Economic Management in the Nitetes Economic and Political Weekly April 20, 2002**

आउट हुआ। बचत विनियोग और चालू खाते के शेष की स्थिति को सारिणी सख्या 5 2 में प्रदर्शित किया गया है।

सारणी सख्या - 5 2

बचत, विनियोग और चालू खाते का शेष, 1990/91-2000/2001											
	90-91	91-92	92-93	93-94	94-95	95-96	96-97	97-98	98-99	99-00	00-01
सकल घरेलू बचत	23 1	22 0	21 8	22 5	24 8	25 1	23 2	23 1	21 7	23 2	23 4
निजी	22 0	20 1	20 2	21 9	23 2	23 1	21 5	21 8	22 7	24 1	25 0
सार्वजनिक	1 1	2 0	1 6	0 6	1 7	2 0	1 7	1 3	1 0	-0 9	-1 7
सकल निवेश	26 3	22 6	23 6	23 1	26 0	26 9	24 5	24 6	22 7	24 3	24 0
निजी	17 0	13 7	15 1	14 8	17 3	19 2	17 5	18 0	16 1	17 2	16 9
सार्वजनिक	9 3	8 8	8 6	8 2	8 7	7 7	7 0	6 6	6 6	7 1	7 1
चालू खाता	-3 2	-2 4	-1 2	0 4	-1 0	1 7	-1 2	1 3	1 0	-1 1	0 6

राजकोषीय उत्तर दायित्व तथा बजट प्रबन्धन विधेयक 2000–राजकोषीय सुधार की दिशा में एक ठोस कदम

अभी हम लोगों ने देखा कि राजकोषीय सुधारों की जो प्रक्रिया 1991 में शुरू हुयी उसके फलस्वरूप सफलता की शुरूआत अवश्य हुयी, पहले पाच वर्षो में मूल्यस्तर में स्थिरता की ओर प्रवृत्ति, आर्थिक सवृद्धि की दर में वृद्धि, राजकोषीय घाटा तथा राजस्व घाटा में कमी, विदेशी विनिमय कोष की गभीर स्थिति में सुधार देखा गया, पर यह सब कुछ अल्पकालिक था। वित्तीय वर्ष 1995–96 से वर्ष 2000 के बीच अर्थव्यवस्था में राजकोषीय असतुलन की स्थिति अत्यन्त ही निराशाजनक रही, सरकार ने यह महसूस किया कि राजकोषीय नियत्रण तथा विनिमय के लिए वैधानिक नियन्त्रण (Logıslıtıve fiat) आवश्यक है, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार ने राजकोषीय उत्तर दायित्व तथा बजट प्रबन्धन विधेयक 2000 रखा जिसे 2003 में ऐक्ट के रूप में पारित कर दिया गया । यद्यपि अनेक कठोर प्रतिबन्ध जो सरकारी व्यवहार को अधिक कठोरता से नियत्रित करते हैं (जो मूलरूप में प्रस्तुत विधेयक के भाग थे) उन्हें छोड दिया गया है, फिर भी राजकोषीय अनुशासन तथा नियत्रण के इतिहास में यह विधेयक मील के पत्थर के रूप में स्वीकार किया जायेगा। ऐसा महसूस किया गया कि भारत में राष्टीय वित्तों

(National Finances) के समुन्नत प्रबन्ध की तात्कालिक आवश्यकता है तथा राजकोषीय पारदर्शिता केवल घरेलू जरूरत ही नहीं है बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकता भी है। राजकोषीय उत्तरदायित्व विधेयक के निम्नाकित प्रमुख उद्देश्य हो सकते है- (i) अन्तरपीढी समता (ii) समष्टि स्थिरता (iii) राजकोषीय पोषणीयता तथा राजकोषीय सम्पन्नता (iv) घाटे के प्रति उदारता की समाप्ति (v) राजकोषीय पारदर्शिता (vi) राजकोषीय उत्तरदायित्व तथा दण्डात्मक कार्यवाही (vii) मौदिक नीति की स्वायत्तता जिसमें सरकार द्वारा केन्द्रीय बैंक से लिए जाने वाले ऋण को सीमित करना भी सम्मिलित है।[5] यह विधेयक जो कि अब ऐक्ट बन गया है, कि प्रमुख बातें निम्नलिखित है- राजकोषीय उत्तरदायित्व तथा बजट प्रबधन विधेयक, 2000 की मुख्य विशिष्टिताएं, अन्य बातों के साथ-साथ निम्न प्रकार प्रावधान करती है -

- ससद के दोनों सदनों के समक्ष, प्रत्येक वित्तीय वर्ष में वार्षिक बजट के साथ, राजकाषीय नीति के निम्नलिखित विवरण रखना

    (क) मध्यावधि राजकोषीय नीति विवरण,

    (ख) राजकोषीय नीति से सबधित कार्यनीति,

    (ग) वृहद-आर्थिक ढाचा विवरण ।

---

5 राजकोषीय उत्तर दायित्व तथा बजट प्रबन्धन विधेयक 2000, परफित रूप में संलग्न है।

- मध्यावधि राजकोषीय नीति विवरण अतर्निहित अनुमानों की विशिष्टियों के साथ निर्धारित राजकोषीय सकेतकों के लिए एक तीन-वर्षीय चालू लक्ष्य निधारित करेगा। इसके अलावा, मध्यावधि राजकोषीय नीति विवरण में निम्नलिखित से संबधित सफलता बनाए रखने का आकलन शामिल होगा (1) राजस्व प्राप्तियों तथा राजस्व व्ययों के बीच सतुलन तथा, (11) उत्पादक परिसपत्तिया सृजित कने के लिए बाजार उधार सहित पूंजी प्राप्तियों का उपयोग ।

- राजकोषीय नीति से सबंधित रणनीति के विवरण में अन्य बातों के साथ-साथ ये शामिल है

  (क) अनुवर्ती वर्ष के लिए कराधार, व्यय बाजार उधार तथा अन्य देयताएं, ऋण तथा निवेश, प्रशासित वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्याकन, प्रतिभूतियों एवं अन्य ऐसे कार्यकलाप जैसे हामीदारी तथा गारंटियों जिनमें संभावनापूर्ण बजटीय निहितार्थ हो, से सबंधित केन्द्रीय सरकार की नीतियां ।

  (ख) अनुवर्ती वर्ष में राजकोषीय क्षेत्र के लिए केन्द्र सरकार की सामरिक प्राथमिकताएं ।

  (ग) कराधार, आर्थिक राजसहायता, व्यय प्रशासित मूल्यानिर्धारण तथा उधारों से सबधित राजकोषीय उपायों में किसी अन्य मुख्य विचलन हेतु मुख्य राजकोषीय उपाय तथा तर्काधार ।

  (घ) इस बात का मूल्याकन करना कि केन्द्र सरकार की वर्तमान नीतियां किसी प्रकार राजकोषीय नीति कार्यनीति विवरण में

निर्धारित किए गए राजकोषीय प्रबंधन सिद्धान्तों तथा मध्यावधि राजकोषीय नीति विवरण में निर्धारित उद्देश्यों के अनुरूप है।

- केन्द्र सरकार राजस्व घाटे को दूर करने तथा राजकोषीय घाटा कम करने तथा पर्याप्त राजस्व अधिशेष सृजित करने के लिए उचित उपाय करेगी तथा विशेष रूप से निम्न उपाय करेगी,

(क) 1 अप्रैल, 2001 से प्रत्येक वित्तीय वर्ष के अत में अनुमानित सकल घरेलू उत्पाद के आधा प्रतिशत अथवा अधिक के समतुल्य राशि के द्वारा राजस्व घाटा कम करना,

(ख) 1 अप्रैल, 2001 के प्रारम्भिक वित्तीय वर्ष से प्रारभ तथा 31 मार्च, 2006 को समाप्त पाच वित्तीय वर्षो की अवधि में राजस्व घाटे को शून्य कर देना,

(ग) राजस्व की अधिशेष राशि का सृजन तथा ऐसी राशि को आधिक्य परिसपित्तयों में देयताए चुकाने के लिए उपयोग करना,

(घ) 1 अप्रैल, 2001 से प्रारम्भ प्रत्येक वित्तीय वर्ष के अत में अनुमानित सकल घरेलू उत्पाद के आधा प्रतिशत अथवा उससे अधिक के समतुल्य राशि द्वारा राजकोषीय घाटा कम करना,

(ङ) 1 अप्रैल, 2001 के प्रारंभिक वित्तीय वर्ष से प्रारम्भ हो रही तथा 31 मार्च, 2006 को समाप्त हो रही पाच वित्तीय वर्षो की अवधि के भीतर एक वित्तीय वर्ष में उस वर्ष के लिए

अनुमानित सकल घरेलू उत्पादक के दो प्रतिशत से अनधिक तक राजकोषीय घाटा कम करना,

(च) किसी वित्तीय वर्ष में अनुमानित सकल घरेलू उत्पाद के आधे प्रतिशत से अधिक की किसी राशि के लिए गारंटी न देना तथा

(छ) 1 अप्रैल, 2001 को प्रारंभिक वित्तीय वर्ष से शुरू होने वाली, तथा 31 मार्च, 2011 को समाप्त होने वाली दस वित्तीय वर्षो की अवधि के भीतर यह सुनिश्चित करना कि वित्तीय वर्ष की समाप्ति पर कुल देनदारिया (चालू विनिमय दर पर विदेशी ऋण समाहित), उस वर्ष के लिए अनुमानित सकल घरेलू उत्पाद के पचास प्रतिशत से अधिक न हो।

- कतिपय परिस्थितियों में अस्थायी नकद आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अग्रिम के उपाय के सिवाय तीन वर्षो के बाद केन्द्र सरकार द्वारा भारतीय रिजर्व बैंक से प्रत्यक्ष ऋणों का निषेध ।

- केन्द्र सरकार द्वारा राजकोषीय प्रचालनों में और अधिक पारदर्शिता सुनिश्चित करने के लिए उपयुक्त उपाय करना तथा वार्षिक बजट की तैयारी में, जहां तक व्यवहार्थ हो, गोपनीयता को न्यूनतम रखना।

- वित्तमत्री द्वारा बजट के सम्बध में प्राप्तियों तथा व्ययों में रुझानों की तिमाही समीक्षा तथा ऐसी समीक्षाओं के परिणामों को ससद के दोनों सदनों के समक्ष रखना ।

- केन्द्र सरकार द्वारा "भारित" व्यय को सरक्षित करते हुए, जहा भी विनिर्दिष्ट लक्ष्यों की तुलना में राजस्व की कमी हो या व्यय का अधिक्य हो, आनुपातिक तरीके से व्यय प्राधिकारों में कटौती करना ।

- वित्त मत्री द्वारा इस अधिनियम के अतर्गत केन्द्र सरकार पर आरोपित बाध्यताओं को पूरा करने में किसी विचलन को स्पष्ट करने वाला तथा केन्द्र सरकार द्वारा प्रस्तावित उपचारी उपायों को बताने वाला एक विवरण के दोनों सदनों में पेश करना।"

- राष्ट्रीय सुरक्षा अथवा राष्ट्रीय परिदृश्य की प्राकृतिक आपदाओं की वजह से केन्द्र सरकार की निधियों पर आकस्मिक मागों से निपटने के लिए घाटा कटौती लक्ष्यों से छूट ।

सार्वजनिक ऋण पोषणीयता तथा सुदृढीकरण

नीति निर्धारकों तथा विश्लेषकों द्वारा सामान्यतया यह स्वीकार किया जाता है तथा अनेक अध्ययनों[6] ने इसकी पुष्टि की है कि भारत की राजकोषीय स्थिति अपोषणीय है। सरकार ने अपने विभिन्न अभिलेखों, आर्थिक समीक्षा, बजट तथा आर0बी0आई0 की विभिन्न रिर्पोटो में इस बात बल दिया है।

यद्यपि कि सरकार ने सार्वजनिक ऋण प्रबन्धन विशेषरूप से ऋणों की मात्रा तथा उनके ऊपर देय औसत ब्याज दर में कमी के लिए अनेक कदम उठाये हैं, प्रत्यक्ष मौद्रीकरण की प्रक्रिया बन्द कर दी गयी है तथा सरकारी प्रतिभूतियों की बैंकों द्वारा धारिता में कमी तथा मौद्रिक नीति के स्वभाव तथा सरचना क्रियाशीलन को प्रोत्साहित करने के लिए भी नीतिगत निर्णय लिए गये है। इन सबको हम इसके पूर्व अध्याय में कर चुके हैं पर इन सबके बावजूद भी हाल के वर्षो में ऋण की पोषणीयता बहुत अधिक खराब हुयी है। वर्ष 1997-98 से 2002 के बीच समस्त सरकारी प्रारम्भिक घाटा दुगने से अधिक हो गया है, ऋण स्टाक में बहुत तीव्र वृद्धि हुयी है तथा सवृद्धि दर और ब्याज दर के बीच अन्तराल में और कमी आयी है और इधर हाल के वर्षो में इसमें ऋणात्मकता की स्थिति

---

[6] **Buiter and Patel (1992) Reynolds (2001) Lohiri and Karan (2001) ---------**

भी दृष्टिगोचर हुई है। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि पोषणीय ऋण जी0डी0पी0 अनुपात को कायम रखने के लिए प्रयास किए जायें। दसवीं पचवर्षीय योजना के दौरान घाटा तथा बचत की स्थिति को दी गयी सारणी सख्या 5 3 में प्रदर्शित किया गया है।

सारणी सख्या 5 3

दसवीं योजना में घाटा तथा बचत की स्थिति

जी0डी0पी0 प्रतिशत रूपये में

	आधार वर्ष 2001–02	अन्तिम वर्ष 2006–07	दसवीं योजना औसत
(क) राज्य			
सकल राजकोषीय घाटा	4 5	2 2	3 2
राजस्व घाटा	2 5	0 2	1 3
(ख) केन्द्र			
सकल राजकोषीय घाटा	5 9	4 3	4 7
राजस्व घाटा	4 2	2 2	2 9
(ग) राज्य तथा केन्द्र (संयुक्त)			
सकल राजकोषीय घाटा	10 4	6 5	7 9
निवल राजकोषीय घाटा	9 3	5 4	6 8
राजस्व घाटा	6 7	2 4	4 2
सरकारी बचत	-4 7	-0 5	-2 4
आईआर (केन्द्रीय तथा राज्य उद्यम)	3 0	2 6	2 8
सार्वजनिक बचत	-1 7	2 1	0 4

(स्रोत. दसवीं पचवर्षीय योजना)

(परिशिष्ट)

THE FISCAL RESPONSIBILITY AND BUDGET MANAGEMENT BILL 2000

A
BILL

To provide for the responsibility of the Central Government to ensure inter-generational equity in fiscal management and long-term macro-economic stability by achieving sufficient revenue surplus, eliminating fiscal deficit and removing fiscal impediments in the effective conduct of monetary policy and prudential debt management consistent with fiscal sustainability through limits on the Central Government borrowings, (lebt and deficits, greater transparency in fiscal operations of the Central Government and conducting fiscal policy in a medium medium-term framework and for matters connected therewith or incidental thereto

BE it enacted by Parliament in the Fifty-first Year of the Republic of India as follows —

1 Short title, extent and commencement - (l) This Act may be called the Fiscal Responsibility and Budget Management Act, 2000

2 It extends to the whole of India

3 It shall come into force on such date as the Central Government may, by notification in the Official Gazette, appoint in this behalf

2 Definitions-In this Act, unless the context otherwise requires —

a) "Annual Budget" means the annual financial statement laid before both Houses of Parliament under article 112 of the Constitution,

b) "Fiscal deficit" means the excess of -

i) Total disbursements from the Consolidated Fund of India, excluding repayment of debt, over total receipts into the Fund, excluding the debt receipts, during a financial year, or

ii) Total expenditure from the Consolidated Fund of India (including loans but excluding repayment of debt) over its tax and non-tax revenue receipts (including external grants) and non-debt capital receipts during a financial year which represents the borrowing requirements, net of repayment of debt, o t e Central Government during the financial year,

c) "Fiscal indicators" means the measures such as numerical ceilings and proportions to gross domestic product, as may be prescribed, for evaluation of the fiscal position of the Central Government,

d) 'Revenue deficit" means the difference between revenue expenditure and revenue receipts which indicates increase in liabilities of the Central Government without corresponding increase in assets of that Government,

e) "Reserve Bank" means the Reserve Bank of India constituted under sub-section (1) of section 3 of the Reserve Bank of India Act, 1934(2 of 1934),

f) "Prescribed" means prescribed by rules made under this Act,

g) "Total liabilities" means the liabilities under the Consolidated Fund of India and the public account of India

3 Fiscal policy statements to be laid before Parliament (I) The Central Government shall lay in each financial year before both Houses of Parliament the following statements of fiscal policy alongwith the annual budget, namely —

I The Medium-term Fiscal Policy Statement,

II The Fiscal Policy Strategy Statement,

III The Macro-economic Framework Statement

(2) The Medium-term Fiscal Policy Statement shall set-forth a three-year rolling target for prescribed fiscal indicators with specification of underlying assumptions

(3) In particular and without prejudice to the provisions contained in sub-section (2), the Medium-term Fiscal Policy Statement shall include an assessment of sustainability relating to—

i The balance between revenue receipts and revenue expenditures,

ii The use of capital receipts including market borrowings for generating productive assets

(4) The Fiscal Policy Strategy Statement shall, inter alia, contain—

i The policies of the Central Government for the ensuing year relating to taxation, expenditure market borrowings and other liabilities, lending and investments, pricing of administered goods and services,

securities and description of other activities, such as,

underwriting and guarantees which have potential budgetary implications,

ii The strategic priorities of the Central Government for the ensuing financial year in the fiscal area,

iii The key fiscal measures and rationale for any major deviation in fiscal measures pertaining to taxation, subsidy, expenditure, administered pricing and borrowings,

iv An evaluation as to how the current policies of the Central Government are in conformity with the fiscal management principles set out in section 4 and the objectives set out in the

Medium-term Fiscal Policy Statement

(5) The Medium-term Fiscal Policy Statement, the Fiscal Policy Strategy Statement and the Macro-economic Framework Statement referred to in clause (c) of sub-section (1) shall be in such form as maybe prescribed

(4) Fiscal Management principles –

I The Central Government shall take appropriate measures to eliminate the revenue deficit and fiscal deficit and build up adequate revenue surplus

II In particular, and without prejudice to the generality of the foregoing provision, the Central Government shall—

a) Reduce revenue deficit by an amount equivalent to one-half per cent, or more of the estimated gross domestic product at the end of each financial year beginning on the 1st day of April, 2001,

b) Reduce revenue deficit to nil within a period of five financial years beginning from the initial financial year on the 1st day of April, 2001 and ending on the 31st day of March, 2006,

c) Build up surplus amount of revenue and utilise such amount for discharging liabilities in excess of assets,

d) Reduce fiscal deficit by an amount equivalent to one-half per cent or more of the estimated gross domestic product at the end of each financial year beginning on the 1St day of April, 2001,

e) Reduce fiscal deficit for a financial year to not more than two per cent, of the estimated gross domestic product for that year, within a period of five financial years beginning from the initial financial year on the 1st day of April, 2001 and ending on the 31st day of March, 2006

Provided that revenue deficit and fiscal deficit may exceed the limits specified under this sub-section due to ground or grounds of unforeseen demands on the finances of the Central Government due to national security or national calamity

Provided further that the ground or grounds specified in the first proviso shall be placed before both Houses of Parliament, as soon as may be, after such deficit amount exceeded the aforesaid limits,

f) Not give guarantee for any amount exceeding one-half percent Of the estimated gross domestic product in any financial year,

g) Ensure within a period often financial years, beginning from the initial financial year on the 1st day of April, 2001, and ending on the

31st day of March, 2011, that the total liabilities (including external debt at current exchange rate) at the end of a financial year,

do not exceed fifty per cent of the estimated gross domestic product for that year

(5) Borrowing from Reserve Bank -

A The Central Government shall not borrow from the Reserve Bank

B Notwithstanding anything contained in sub-section (I), the Central Government may borrow from the Reserve Bank by way of advances to meet temporary excess of cash disbursement over cash receipts during any financial year in accordance with the agreements which may be entered into by that Government with the Reserve Bank

Provided that any advances made by the Reserve Bank to meet temporary excess cash disbursement over cash receipts in any financial year shall be repayable in accordance with the provisions contained in sub-section (5) of section 17 of the Reserve Bank of India Act, 1934 (2 of 1934)

C Notwithstanding anything contained in sub-section (I), the Reserve Bank may subscribe to the primary issues of the Central Government securities during the financial year beginning on the 1st day of April, 2001 and subsequent two financial years

D Notwithstanding anything contained in sub-section (1) the Reserve Bank may buy and sell the Central Government securities in the secondary market

(6) Measures for fiscal transparency -

1) The Central Government shall take suitable measures to ensure greater transparency in its fiscal operations in public interest and

minimise as far as practicable, secrecy in the preparation of the annual budget

2) In particular, and without prejudice to the generality of the foregoing provision, the Central Government shall at the time of presentation of the annual budget, disclose in a statement as may be prescribed,—

(a) The significant changes in the accounting standards, policies and practices affecting or likely to affect the computation of prescribed fiscal indicators,

(b) As far as practicable, and consistent with protection of public interest, the contingent liabilities created by way of guarantees including guarantees to finance exchange risk on any transactions, all claims and commitments made by the Central Government having potential budgetary implications, including revenue demands raised but not realised and liability in respect of major works and contracts

7 Measures to enforce compliance -(1) The Minister incharge of the Ministry of Finance, shall review, every quarter, the trends in receipts and expenditure in relation to the budget and place before both Houses of Parliament the outcome of such reviews

(2) Whenever there is either shortfall in revenue or excess of expenditure over pre-specified levels during any period in a financial year, the Central Government shall proportionately curtail the sums authorised to be paid and applied from and out of the Consolidated Fund of India under any Act to provide for the

appropriation of such sums

Provided that nothing in this sub-section shall apply to the expenditure charged on the Consolidated Fund of India under clause (3) of article 112 of the Constitution

(3) The Minister incharge of the Ministry of Finance, shall make a statement in both Houses of Parliament explaining—

a) Any deviation in meeting the obligations cast on the Central Government under this Act,

b) Whether such deviation is substantial and relates to the actual or the potential budgetary outcomes, and

c) The remedial measures the Central Government proposes to take

8 Power to make rules – (1) The Central Government may, by notification in official Gazette make rules for carrying out the provisions of this Act

(2) Hı particular, and without prejudice to the generality of the foregoing power, such rules may provide for all or any of the following matters, namely —

(a) The fiscal indicators to he prescribed for the purpose of sub-section (2) of section 3 and clause (a) of sub-section (2) of section 6,

(6) The forms of the Medium-term Fiscal Policy Statement, Fiscal Policy Strategy Statement and Macro econontc Frame Work Statement referred to in sub-section (4) of section 3,

(c) The form of statement under sub-section (2) of section 6, and

(d) Any other matter which is required to be, or may be, prescribed

9 Rules to be laid before each House of Parliament-Every rule made under this Act shall be laid, as soon as may be after it is made, before each House of Parliament, while it is in session, for a total period of thirty days which may be comprised in one session or in two or more successive sessions, and it before the expiry of the session immediately following the session or the successive sessions aforesaid, both Houses agree in making any modification in the rule or both Houses agree that the rule should not be made, the rule shall thereafter have effect only in such modified form or be of no effect, as the case may be, so, however, that any such modification or annulment shall be without prejudice to the validity of anythfng previously done under that rule

10 Protection of action taken in good faith-No suit, prosecution or other legal proceedings shall lie against the Central Government or any officer of the Central Government for anything, which is in good faith done or intended to be done under this Act or the rules made thereunder

11 Application of other laws not barred-The provisions of this Act shall be in addition to, and not in derogation of, the provisions of any other law for the time being in force

generations The issue of inter-generational equity has, therefore, to be addressed without delay

2 The fiscal stress manifests itself in several ways and has adverse consequences on the economy The debt service obligations not only crowd out the consumption expenditure of the Central Government but also constrain its ability to take up new capital investment from budget Further, high fiscal deficit leads to high real interest rates, which hurt the borrowers These have adverse effect on economic growth Reduction in the Central Government's expenditure and reduced level of its borrowings will result in higher availability of bank credit to the private and public sectors for economic development

3 The finances of the Central Government are required to be so managed that the fiscal situation becomes sustainable and conducive to macro-economic stability and economic growth This alone will permit the Central Government to focus adequate attention on the much needed intervention in social sector programmes and other plans

4 The Public Accounts Committee, the Estimates Committee, the Comptroller and Auditor-General of India and the Reserve Bank of India have repeatedly recommended to the Central Government to enact a legislation to control the Central Government's borrowings, which was also emphasized in the constituent Assembly In this connection, it is pertinent to recall the debate in the constituent Assembly on the issue of legislative control on the Government's borrowing power The Hon'ble Dr B R Ambedkar, while commenting on draft article 268 (corresponding to present article 292 of the Constitution) in the constituent Assembly observed as follows

generations The issue of inter-generational equity has, therefore, to be addressed without delay

2 The fiscal stress manifests itself in several ways and has adverse consequences on the economy The debt service obligations not only crowd out the consumption expenditure of the Central Government but also constrain its ability to take up new capital investment from budget Further, high fiscal deficit leads to high real interest rates, which hurt the borrowers These have adverse effect on economic growth Reduction in the Central Government's expenditure and reduced level of its borrowings will result in higher availability of bank credit to the private and public sectors for economic development

3 The finances of the Central Government are required to be so managed that the fiscal situation becomes sustainable and conducive to macro-economic stability and economic growth This alone will permit the Central Government to focus adequate attention on the much needed intervention in social sector programmes and other plans

4 The Public Accounts Committee, the Estimates Committee, the Comptroller and Auditor-General of India and the Reserve Bank of India have repeatedly recommended to the Central Government to enact a legislation to control the Central Government's borrowings, which was also emphasized in the constituent Assembly In this connection, it is pertinent to recall the debate in the constituent Assembly on the issue of legislative control on the Government's borrowing power The Hon'ble Dr B R Ambedkar, while commenting on draft article 268 (corresponding to present article 292 of the Constitution) in the constituent Assembly observed as follows

"This article specifically says that the borrowing power of the executive shall be subject to such limitations as Parliament may by law prescribe If Parliament does not make a law, it is certainly the fault of Parliament and I should have thought it very difficult to imagine any future Parliament which will not pay sufficient or serious attention to this matter and enact a law Under the article 268, I even concede that there might be an Annual Debt Act made by Parliament prescribing or limiting the power of the executive as to how much they can borrow within that year I therefore do not see what more is wanted by those who expressed their dissent from the provisions of article 268 It is of course a different matter for consideration whether we should have a further provision limiting the power of the Parliament to pledge the credit of the country It seems to me that even that matter may be left to Parliament because it will be free for Parliament to say that borrowing shall not be done on the pledging of certain resources of the country I do not see how this article prevents Parliament from putting upon itself the limitations with regard to the guarantees that may be given by Parliament for the ensurement of these loans or borrowings I therefore think that from all points of view this article 268 as it stands is sufficient to cover all contingencies and I have no doubt about it that, as my friend Mr Ananthasayanam Ayyangar said, we hope that Parliament will take this matter seriously and keep on enacting laws so as to limit the borrowing authority of the Union, — I go further and say that I not only hope but I expect that Parliament will discharge its duties under this article "

5 In view of the facts and circumstances mentioned in the preceding paragraphs, while presenting the Budget for the year 2000-2001, it was announced that the Central Government intended to bring necessary legislative proposals before the House during the course of the year for setting up of a strong institutional mechanism to promote overall fiscal

prudence

6 The Central Government has, therefore, decided to enact the proposed legislation to provide for the responsibility of the Central Government to ensure inter-generational equity in fiscal management and long-term macro-economic stability by achieving sufficient revenue surplus, eliminating fiscal deficit and removing fiscal impediments in the effective conduct of monetary policy and prudential debt management, consistent with fiscal sustainability, through limits on the Central Government borrowings, debts and deficits, greater transparency in fiscal

operations of the Central Government and conducting fiscal policy in a medium-term framework and for matters connected therewith or incidental thereto

7 The important features of the Bill, inter alia, provide as under —

(a) laying before Houses of Parliament, along with the annual budget, the Medium-term Fiscal Policy Statement, Fiscal Policy Strategy Statement and Macro-economic Framework Statement by the Central Government,

(b) appropriate measures by the Central Government to eliminate revenue deficit and fiscal deficit and build up adequate revenue surplus,

(c) elimination of revenue deficit by 31st March, 2006 and bringing down fiscal deficit to 2 % of GDP in the same period

(d) prohibition of direct borrowings by the Central Government from the Reserve Bank of India after three years except by way of advances to meet temporary cash needs in certain circumstances,

(e) greater transparency in fiscal operations and to minimization of, as far as practicable, secrecy in the preparation of the annual budget,

(f) quarterly review of the trends in receipts and expenditures in relation to the budget by the Finance Minister and placing the outcome of such reviews before both Houses of Parliament

(g) the Central Government to cut expenditure authorizations in a proportionate manner, while protecting the "charged" expenditure, whenever there is a shortfall of revenue or excess of expenditure over specified targets

(h) Finance Minister to make a statement in both Houses of Parliament explaining any deviation in meeting the obligations cast on the Central Government under this Act and the remedial measures the Central Government proposes to take

(i) relaxation from deficit reduction targets to deal with unforeseen demands on the finances of the Central Government on account of national security or natural calamities of national dimension

8 The Bill seeks to achieve the above objects

NEW DELHI,

YASHWANT SINHA

The 11th December, 2000

अध्याय-6

निष्कर्ष

(Conclusion)

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में हम लोगों ने भारत में बजट घाटा विशेषरूप से राजकोषीय घाटा के विभिन्न सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक पहलुओं की जो व्याख्या की तथा जो निष्कर्ष प्राप्त किए वे मुख्यरूप से इस आधारभूत मान्यता पर आधारित है कि भारत के आर्थिक विकास की प्रक्रिया अब बाजार व्यवस्था पर आधारित होगी जिसके निजीकरण, उदारीकरण तथा विश्वीकरण प्रमुख स्तम्भ होगें पर साथ ही 'गरीबी तथा बेरोजगारी' निवारण आर्थिक नीति के महत्वपूर्ण पहलू रहेंगें। शोध प्रबन्ध के दौरान जो प्रमुख मुद्दे विचारार्थ सामने आये, वे हैं-

(क) राजकोषीय घाटा किस प्रकार आन्तरिक तथा बाह्य स्थिरता को प्रभावित करता है, बढता हुआ राजकोषीय घाटा क्या आवश्यक रूप से स्फीतिक प्रवृत्ति को जन्म देगा,

(ख) राजकोषीय घाटा में कमी लाने के उद्देश्य से राजस्व प्रबन्ध तथा कर प्रणाली में सुधार, व्यय प्रबन्ध तथा ऋण प्रबन्ध किए गये हैं, वे सुधारों की परवर्ती अवधि में कहा तक प्रभावी रहें ।

(ग) राजकोषीय सुदृढीकरण की प्रक्रिया कहा तक सफल रही,

(घ) केन्द्र सरकार द्वारा राजकोषीय घाटा को कम करने या राजकोषीय सुदृढीकरण के सम्बन्ध में जो प्रयास किये गये उसने राज्यों की वित्तीय व्यवस्था को कहा तक प्रभावित किया,

(ङ) राजकोषीय घाटा में कमी क्या आर्थिक विकास में तेजी लायेगी, तथा गरीबी और बेरोजगारी का स्वत· निराकरण हो जायेगी ।

इन सभी प्रश्नों की व्याख्या प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के विभिन्न अध्यायों तथा उप अध्यायों में की गयी तथा निम्नाकित निष्कर्ष प्राप्त हुए-

1 बढता हुआ राजकोषीय घाटा सामान्यतया भयावह तथा गभीर राजकोषीय सकट को जन्म देता है, यह सकट उस

समय और अधिक भयावह हो जायेगा यदि राजकोषीय घाटा का बढना राजस्व घाटे की वृद्धि के परिणामस्वरूप हो। राजकोषीय घाटे में बढते हुए राजस्व घाटा की मात्रा का अर्थ हुआ उपभोग व्ययों की पूर्ति के लिए देयता सृजन करना, जो अस्वस्थ राजकोषीय प्रबन्ध का परिचायक होगा ।

2 सैद्धान्तिक स्तर पर सही है कि राजकोषीय घाटा वाह्य असतुलन या चालू खाते के घाटे में फैल जायेगा पर इस प्रकार का निष्कर्ष भारत के सदर्भ में सही नहीं उतरता ।

3 सामान्यतया यह माना जाता है कि बढता हुआ राजकोषीय घाटा अर्थव्यवस्था में स्फीतिक दबाव को जन्म देगा क्योंकि बढता राजकोषीय घाटा समग्र माग में वृद्धि लायेगा पर यह तभी सत्य सिद्ध होगा जबकि राजकोषीय घाटा का वित्तीयन प्रतिभूतियों के मौद्रीकरण से हो अन्यथा सही नहीं सिद्ध होगा।

4 बढते हुये राजकोषीय घाटा का अर्थ हुआ बढता हुआ ऋण तथा उस पर बढती हुयी ऋण अदायगी। बढता हुआ राजकोषीय घाटा अर्थव्यवस्था को ऋण जाल में ले सकता है।

5 भारत में बढते हुये राजकोषीय घाटा से उत्पन्न गभीरता तथा भयावहता की ओर सबसे पहले 1991 में वित्तमत्री डा0 मनमोहन सिह ने ध्यान आकृष्ट किया और तभी से सभी वित्त मन्त्रियों ने बढते हुये इस राजकोषीय घाटा को गभीरता से लेना प्रारम्भ किया। भारत के राजकोषीय घाटा को कम करने के लिए जो कदम उठाये गये वे मुख्यरूप से राजस्व प्रबन्ध तथा कर सुधार, व्यय प्रबन्ध तथा व्यय सुधार और ऋण प्रबन्धन के रूप में रहे हैं। इनके सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि कर सुधार जो भी हुए उनसे राजस्व में बहुत अधिक वृद्धि नहीं हुयी वास्तविकता तो यह है कि सुधारों की परवर्ती अवधि में कर जी0डी0पी0 अनुपात में कमी आयी है, इसका अर्थ यह हुआ कि राजकोषीय घाटा में जहा तक कमी लाने में कर सुधारों के योगदान का प्रश्न है, यह नगण्य है।

6 राजकोषीय घाटा तथा राजकोषीय प्रबन्ध का जो विश्लेषण भारतीय अर्थव्यवस्था के सदर्भ में किया गया उससे स्पष्ट रूप से यह बात सामने आयी कि राजकोषीय सकट तथा राजकोषीय घाटे की समस्या मूलत सार्वजनिक व्यय के नियमन तथा प्रबन्धन से सम्बन्धित है। सरकार ने इस दिशा में अनेक प्रयास किए, व्यय आयोग का गठन इस

दिशा में एक ठोस कदम रहा। पर सरकार ने सार्वजनिक व्ययों में कटौती का जो प्रयास किया उससे राजस्व व्ययों में (जोकि अधिकाशतया प्रसविदात्मक या बेलोच स्वभाव के है) कोई विशेष कमी नहीं आयी, इसलिए सरकार द्वारा व्यय में कटौती के प्रयास ने वस्तुत पूजीगत व्ययों में ही कटौती की है। सरकार राजस्वव्ययों में जो कटौती ला सकी है, वह इधर हाल के वर्षों में राज्यों को हुए हस्तान्तरण व्यय में ही कमी ला सकी है जिसने राज्यों की वित्तीय स्थिति को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया है।

7 सार्वजनिक ऋण प्रबन्ध के सम्बन्ध में सरकार ने सराहनीय प्रयास किए है पर अब भी भारत में ऋण जीडीपी अनुपात अत्यन्त ही ऊँचा है जो किसी समय में राजकोषीय सकट को पैदाकर सकता है। ऐडहाक ट्रेजरी बिल्स या प्रत्यक्ष मौद्रीकरण की क्रिया की समाप्ति तथा उसके स्थान पर वेज एण्ड मीन्स ऐडवान्सेज की व्यवस्था लागू करना, विनिवेश तथा सचित विदेशी विनिमय कोष से ऊची ब्याज वाले ऋणों के पुर्नभुगतान की व्यवस्था करना, राज्यों के सम्बन्ध में स्वैप व्यवस्था सार्वजनिक ऋणों पर देय ब्याज दर तथा बाजार ब्याज के बीच अन्तर में कमी लाना, राजकोषीय उत्तरदायित्व तथा बजेटरी प्रबन्धन विधेयक

कि राजकोषीय घाटे के गुणवत्ता के पहलू को उचित भार प्रदान किया जाय ।

(ख)भारत में राजकोषीय सुदृढीकरण की नीति को लागू करते समय राजस्व जी0डी0पी0 अनुपात में वृद्धि लाना आवश्यक है और इसमे वृद्धि लाने की सम्भावना है। कृषि तथा सेवा क्षेत्र जिनका अर्थव्यवस्था में 3/4 हिस्सा है तथा जो अधिकाशतया अल्प करारोपित हैं, को कर के दायरे में लाकर कर आधार को बढाया जा सकता है। यदि एशियन देशों के कर जी0डी0पी0 अनुपात को मानक अनुपात मानकर चलें तो तो भारत में कर जी0डी0पी0 अनुपात में 3 से 5 प्रतिशत तक बढने की सम्भावना है। प्रशासनिक सुधार के द्वारा कर राजस्व में वृद्धि तथा कर आधार में विस्तार लाया जा सकता है। भारत में मध्यम आय वर्गीय लोगों की सख्या लगभग 150 मिलियन है जिसमें से पजीकृत कर दाता 24 मिलियन ही है।

(ग)प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों के युक्तिकरण के द्वारा कुशलता लाभ तथा राजस्व लाभ की प्राप्ति की अधिक सम्भव क्षमता है। उदाहरण के लिए धीरे-धीरे करके टैरिफ सम्बन्धी रियायतों की जिनमें निर्यात प्रवर्तन के सम्बन्ध में दी जाने वाली रियायत तथा प्रेरणायें भी सम्मिलित है, समाप्त करना, उत्पाद शुल्क सम्बन्धी रियायतों विशेषरूप से छोटे पैमाने के उद्योगों तथा उर्वरकों के सदर्भ मे को कम करना

या समाप्त करना, छोटे पैमानें के औद्योगिक इकाईयों को दी जाने वाली अन्य रियायतों को धीरे-धीरे समाप्त करना, तथा कर सम्बन्धी प्रेरणाओं के चयनात्मक प्रयोग के द्वारा राजस्व का जी0डी0पी0 के प्रतिशत के रूप में, 1 प्रतिशत की वृद्धि की जा सकती है।

(घ)सार्वजनिक व्यय के सम्बन्ध में अनुत्पादक तथा दोषपूर्ण लक्षित व्ययों में कमी लाने पर बल दिया जाना चाहिए, जबकि अवस्थापना तथा मानवीय पूजी में होने वाले विनियोग पर बल दिया जाना चाहिए व्यय आयोग ने जो सस्तुतियों की है, उनके क्रियान्वयन पर बल दिया जाना चाहिए, विशेषरूप से सब्सिडीज की लागत तथा लक्ष्यीकरण तथा सरकार के आकार में कमी लाने के सदर्भ में ।

(ड)दसवीं पचवर्षीय (2002-07) की निवेश आवश्यकता की पूर्ति के लिए आवश्यक बजेटरी ससाधन की मात्रा 2001-02 मूल्यों पर 994060 करोड रूपये होगी जो सार्वजनिक ऋण द्वारा पूर्णतया पूरी होगी। पाच वर्षो की अवधि में केन्द्र की निवल ऋण आवश्यकता 678594 करोड रूपये होगी। इस प्रकार औसतन ऋण आवश्यकता प्रतिवर्ष 135715 करोड रूपये होगी। यह तथ्य सुस्पष्ट है कि आदर्श राजकोषीय स्थिति वह होगी जबकि सरकारी विनियोग आवश्यकता की पूर्ति, जहा तक सम्भव हो सरकारी बचत को बढाकर की जाये। पर विगत वर्षो का जो अनुभव तथा सरकारी बचत की प्रवृत्ति है इसके

आधार पर यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि सरकारी खाते मे आधिक्य की स्थिति होगी जिससे सार्वजनिक निवेश की वित्तीय व्यवस्था की जा सके। इसलिए प्राथमिक रूप से विनियोग सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सरकार को सार्वजनिक ऋण पर निर्भर रहना पडेगा, जिसमें से एक बहुत बडा भाग सरकारी उपभोग व्यय को पूरा करने मे व्यय हो जाता है।

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का यह दृष्टिकोण न्यायोचित तथा बुद्धिमत्तापूर्ण है तथा जिसे ई0 डोमर ने अपने सार्वजनिक ऋण से उत्पन्न बोझ सम्बन्धी दृष्टिकोण में समर्थित भी किया है कि सार्वजनिक ऋण को तभी तक न्यायोचित ठहराया जा सकता है जबकि विनियोग से प्राप्त प्रतिफल सार्वजनिक ऋणों पर देय लागत से अधिक हो पर भारतीय लोकवित्त राजकोषीय कुप्रबन्ध से ग्रस्त है जो उच्च्व ऋण जीडीपी अनुपात में प्रदर्शित है। आवश्यकता इस बात की है कि सरकार राजकोषीय घाटा को पोषणीय स्तर पर कायम रखने का प्रयास करे तथा सम्पूर्ण सार्वजनिक ऋण स्टाक पर औसत ब्याज दर को 8 5 से 9 प्रतिशत के बीच में लाये।

BIBLIOGRAPHY

- Anderson R J (Jr) (1988) – Financing India's Public sector

Deficits, World Bank working paper

- Acharya, S , and Associates (1985) – Aspects of Black Economy in India, National Institute of Public Finance and Policy, New Delhi
- Arrow, K J & M Boskin (eds) (1988) – Economics of Public Debt, Mcmillan, New York
- Bhatia, H L (1994) Public Finance - Eighteenth Edition (New Delhi, Vikas)
- Burgess, R and N stern (1993), Tax Reform in India, Working paper No 45 STICERD, London School Of Economics
- Bhattacharya B B (1979) – "Union Budget , 1979-80", Economic and Political weekly, April 7, 1979
- Business standard (2000) "Crisil sees state Governments finances going further downhill" Report of January 7, Mumbai
- Bhattacharya B B (1991), 'Macro Imbalances, Stabilisation Programme and union Budget' , Economic and Political weekly, August 24, 1991
- Boskin, M J , J S Flemming and S Gorin (eds) (1987) – Private Saving and Public Debt, Basil Blackwell, New York
- Buchanan, J (ed) (1986) – Deficits, Basil Blackwell, Newyork
- Bhattacharya, B B and Srabani Guha (1990)- 'Public Debt, Inflation and Growth, A Macroconometric Analysis for India' Institute of Economic growth, Mimeo
- Bhattacharya, B B and V Pandit (1985) – Alternative Means of financing Government Expenditure and Trade off between Inflation and Growth, Report Submitted to the R B I Committee to Review working of the Monetary System (Chairman S Chakravarty)

- Blanchard, O J (1987) – 'Raganomics in De Menil, G and R Portes (eds), Economic Policy A Special Reports, Conservative Revolution, Combridge university Press
- Bhattacharya, B B (1991) – 'Fiscal Management Issues and Policy options' theme Paper for the Seminar on Fiscal Management organized by the Indian Economic Association Trust for Research, New Delhi
- C P Chandra Sekhar, Economic Reform and the Budget, Economic and Political weekly, April 1, 2000
- C Rangrajan, Fiscal Deficit, B O P and Current account deficit edited- Uma Kapila 2000
- Chakravarty S (1979) – "On the Question of Home Market"' Economic and Political Weekly
- Chakravarty S (1990) – 'Savings Estimates in India Trends and Issues' National Institute of Public Finance and Policy, New Delhi
- Chelliah R J, - Fiscal and Financial Sector Reform in India, Delhi Oxford 1999
- Chelliah Raja Ji (1991) – Tax Reforms Committee Report , 1991
- Chakravarty S Committee Report (1985)
- Dhar, P N (1989)- Constraints on Growth Reflection on the Indian Experience, Oxford University Press, Delhi
- Errol D'Souza, "Fiscal Deficits, Expectation and Exchange Rates, E P W 1 April, 1999
- E P W Research foundation" liquidity leads to Fiscal lethargy, "E P W 17 July, 1999
- Gulati, I S (ed) (1987) – Centre – state Budgetory Transfer, Published for Sameekha Trust, Oxford University Press, Delhi
- Gulati, I S – "Tackling, the growing Burden of Public Debt", Economic Political weekly May 1, 1993
- Government of India (1985) – Long term Fiscal Policy
- Government of India (1991) – Budget Speech of Finance Minister, Manmohan Singh, for the union Budget for 1991-92
- Government of India (1988)- Report of the Comptroller and Auditor General of India

- Gulatı, Ashok (2000), "Mıllennıum Budget", Economıc and Polıtıcal weękly, Aprıl 1, 2000 PP 1146
- Guhan,S (1995) "Center and state ın the Reform Process" ın, Indıa The futuer of Economıc Reform, ed Robert Cassen and Vıjay Joshı (New Delhı, Oxford)
- Indıa, (1978), "Report of the Indırect Taxatıon Enquıry Commıttee", (Chaırman L K Jha), Mınıstry of the finance,Government of Indıa
- Indıa Reducıng Poverty, Acceleratıng Development (Oxford 2000) Chapter Growth Macro Economıc development & polıcy
- Indıa's development report 1999-2000,Ed parıkh
- Joshı,V and I M D Lıttle(1996),Indıa's economıc reforms,1991-2001, Oxford Unıversıty Press, New Delhı
- Krıshnamurty, K (1984)- Macro Economıc modellıng of Indıan Economy studıes on Inflatıon and growth, Hındustan publısher, Delhı
- Lal,S N (2001) Lokvıtt, Shıv Publıshıng house, Allahabad
- Lahırı, Ashok, Subnatıonal Publıc Fınance ın Indıa, Economıc and Polıtıcal Weekly, Aprıl 29, 2000
- Manı Sunıl (1991)-"External Lıbralısatıon and Import dependence A note, "Economıc and polıtıcal weekly, July 6, 1991
- Mundle, S and M G Rao (1990)- 'The volume and Composıtıon of Government subsıdıes ın Indıa (1987-88), Natıonal Instıtute of Publıc Fınance and Polıcy, New Delhı
- Measurement of Fıscal deficıt examıned, ın how to measure ın fiscal deficıt, reproduced ın IMF Survey, 26 July 1993
- Mıshra, B Economıcs of Publıc finance, Delhı, Macmıllan 1997
- Musgrave,R.M , fiscal system,Magraw,London,1956
- Musgrave,R.A , the theory of publıc finance, Magraw London,1959
- Panchamukhı,V R (1978)- Trade Polıcıes of Indıa A quantıtatıve Analysıs, Concept Publıshıng Co, Delhı
- Papanek,Gustar F F- Fıscal polıcy and development strategy ın south Asıa,1983
- Papanek, Gustar F, World Bank, July 1986
- Plannıng Commıssıon,Tenth plan, Mınıstry of Fınance, New Delhı,

- Rao, M Govinda (1999)-"Role of subnational government in the process of fiscal reform in India" in Ric shand, (ed) Economic Liberalization in south asia, (Macmillan India, New Delhi)
- Rao, M G and T K Sen, (1994), "Public Expenditure in India "National Institute of Public Finance and Policy, (mimeo), New Delhi
- Rizzo, I and Peacock (1987) - "Government debt and Growth in public spending", public finance
- Seshan,A (1987) - "The burden of domestic debt in India", R.B I occasional Papers, No 1, 1987
- Tanji,V M J Blezer and M O Teijeiro (1987) - "Inflation and Measurement of Fiscal deficit," IMF Staff Papers, December 1987
- Tripathi,R N Fiscal Policy and economic development in india
- World Bank (1996) India Five years of stabilization and reform and the challenges ahead, (Washington, World Bank)
- World Bank,(1997) India Sustaining Rapid Economic growth, (Washington, The World bank)
- World Bank- World Development Report, 1985, 1987, 1988, 1991, Oxford University Press, New York
- World Bank-World Development Report (1990) - India Strategy of trade reform, Executive Summary Published in financial Express, New Delhi, July 13, 1991
- (1996), Solvancy and fiscal correction in India "An Analytical Discussion" in S Mundle (ed), Fiscal policy in India, New Delhi Government of India Press

- (1990), Economic Survey 1989-90, New Delhi Government of India Press
- (1991), Economic Survey 1990-91, New Delhi Government of India Press
- (1992), Economic Survey 1991-92, New Delhi Government of India Press
- (1993), Economic Survey 1992-93, New Delhi Government of India Press

- (1994), Economic Survey 1993-94, New Delhi Government of India Press
- (1995), Economic Survey 1994-95, New Delhi Government of India Press
- (1996), Economic Survey 1995-96, New Delhi Government of India Press
- (1997), Economic Survey 1996-97, New Delhi Government of India Press
- (1998), Economic Survey 1997-98, New Delhi Government of India Press
- (1999), Economic Survey 1998-99, New Delhi Government of India Press
- (2000), Economic Survey 1999-2000, New Delhi Government of India Press
- (2001), Economic Survey 2000-01, New Delhi Government of India Press
- (2002), Economic Survey 2001-02, New Delhi Government of India Press
- (2003), Economic Survey 2002-03, New Delhi Government of India Press

News Paper -

- Economic Times
- Financial Express
- Times of India
- Hindustan Times
- The Hindu